3.5
V2

	मैचों में अधूरे	सफलता प्रतिशत
	–	76.19%
	1	69.56%
	1	63.41%
	1	54.76%
	–	48.78%
	–	44.11%
	2	44.00%
	1	34.21%
	–	28.12%
	–	0.00%
	–	0.00%

... गया है।

2000 में सबसे अधिक रन बनाने वाले 10 बल्लेबाज

	मैच	पारी	नाट आउट	रन	औसत	उच्च स्कोर	स्ट्राइक रेट	सेंचुरी	हाफ सेंचुरी
…ली (भारत)	32	32	4	1579	5639	144	82.25	7	6
…(द. अफ्रीका)	36	36	3	1467	44.45	115	73.20	2	13
…कर (भारत)	34	34	–	1328	39.05	146	81.77	3	6
…(द. अफ्रीका)	39	38	9	1300	44.82	98*	66.59	–	11
…ना (पाक)	41	41	5	1162	32.27	100*	63.15	1	7
…क (पाक)	34	32	7	1074	42.96	121*	67.58	1	9
…न्यूजी.)	25	22	3	1068	56.27	103	82.28	1	9
…(भारत)	31	29	1	980	35.00	85	63.80	–	9
…(जिम्बाब्वे)	28	28	3	960	38.40	105*	70.12	1	6
…(जिम्बाब्वे)	32	32	2	943	31.43	120*	69.80	1	6

2000 में सबसे अधिक विकेट लेने वाले गेंदबाज

	मैच	ओवर	मेडेन	रन	विकेट	औसत	पारी में 4 विकेट	रन प्रति ओवर	सर्वश्रेष्ठ
…(पाक)	38	314.8	22	1370	61	22.35	4	4.25	5-48
…(द. अ.)	38	331.3	28	1319	61	21.42	3	3.97	5-20
…(द. अ.)	39	283.5	18	1356	46	29.47	–	4.77	3-40
…(द. अ.)	41	277	10	1231	39	31.56	1	4.44	5-47
…(आस्ट्रे.)	21	179.4	28	682	36	18.94	2	3.79	5-49
…(पाक)	30	252.2	28	1055	36	29.30	–	4.18	3-10
…जिम्बा.)	30	260.3	11	1212	35	34.62	–	4.65	3-26
…लंका)	21	200.1	19	680	34	20.00	2	3.39	7-30
…र (भा.)	28	251.1	14	1231	34	36.20	1	4.90	4-25
…ट्रे.)	20	174.1	10	757	34	22.26	1	4.34	5-27

एस. परवेज कैसर

वर्ष से 15.8 प्रतिशत अधिक है।

बॉली…

क…

दुनिया में बहुत…
पर इतने कम…
वह किसी भी वि…
सकते हैं औ…

श्री लंकाई अ…
मुथैया मुरल…
टेस्ट विकेट…
के विशिष्ट क्लब के नवीन…
और भले ही वह एक छो…
प्रतिनिधित्व करते हों ले…
निश्चित रूप से वह…
उपलब्धि के हकदार थे। दु…
में बहुत कम ऐसे स्पिनर हि…
जो विकेट पर इतने कम अ…
रहते हों जितने की मुरली…
किसी भी विकेट पर मनमा…
टर्न हासिल कर सकते हैं…
यही वह विशेषता है जो…
असाधारण सिद्ध करती है।…
डर्बन में दक्षिण अफ्रीक…
खिलाफ इस्तेमाल हुई पिच…
ही उदाहरण लीजिये…
मुरलीधरन ने यह उपल…
हासिल की। एक ऐसे वि…
जिसमें न तो उछाल थी औ…
ही टर्न, मुरली ने 11 वि…
हासिल किये। मुरलीधरन…
उम्र केवल 28 वर्ष है और…
स्पिनर के रूप में वह दस…
और क्रिकेट खेल…

पर मनमाफिक टर्न हासिल कर ही वह विशेषता है जो उन्हें साधारण सिद्ध करती है।

स्पिनर
300
वालों
स्य हैं
श का

वें गेंदबाज हैं। गेंदबाजों के लिए हालिया समय काफी खुशनुमा रहा क्योंकि इसी माह आस्ट्रेलिया के तेज गेंदबाज ग्लेन मैकग्राथ ने वेस्टइंडीज के खिलाफ पर्थ में दूसरे टेस्ट मैच में



191



आ. पु.

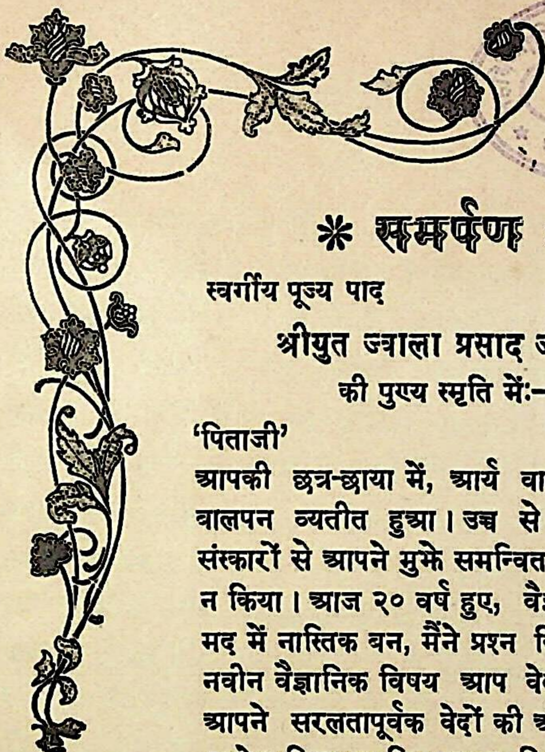


2335

प्रकाशकः—दीनदयालु सोनी,
आर्ष स्वाध्याय सदन
G2/34 कनॉट सरकस
नई दिल्ली।



मुद्रकः—
गोएडल्स प्रेस,
कनॉट सरकस, नई दिल्ली।



* समर्पण *

स्वर्गीय पूज्य पाद

श्रीयुत ज्वाला प्रसाद जी बैंकर

की पुण्य स्मृति में:—

'पिताजी'

आपकी छत्र-छाया में, आर्य वातावरण में, मेरा बालपन व्यतीत हुआ। उच्च से उच्च शिक्षा, तथा संस्कारों से आपने मुझे समन्वित करने हेतु, क्या न किया। आज २० वर्ष हुए, वैज्ञानिक शिक्षा के मद में नास्तिक बन, मैंने प्रश्न किया था कि कोई नवीन वैज्ञानिक विषय आप वेदों में दिखावें। आपने सरलतापूर्वक वेदों की ओर लक्ष्य करके आदेश किया था कि पढ़कर, निज सन्तुष्टि स्वयं ही मैं क्यों न करलूँ। उसी क्षण से वह प्रेरणा मेरे साथ है। आपने मेरे जीवन के उपवन को जिस रस से सींचा है उसके लिये इस जीवन में तो मैं उऋण न हो सका—केवल श्रद्धाँजली रूप यह पुष्प आपकी स्मृति में समर्पित है।

आपका प्रिय पुत्र—

दीनदयालु

प्रस्तावना



श्रीयुत दीनदयालु जी सोनी M. Sc. का लिखा हुआ सन्ध्या-रहस्य मेरे सामने है। पुस्तक के देखने से प्रकट होता है कि लेखक ने सन्ध्या के मन्त्रों के, आधिभौतिक आदि दृष्टि से, अनेक प्रकार के अर्थ किये हैं। अनेक शब्दों के अर्थों के खोलने के लिये भी पर्याप्त सामग्री पुस्तक में संग्रह की गई है। चाहे मन्त्रों के अर्थों पर विचार करें, चाहे शब्दार्थों पर, प्रत्येक से लेखक का गवेषणा पूर्ण परिश्रम प्रकट होता है। यद्यपि एक प्रकार की दृष्टि से सन्ध्या ईश्वरोपासना का प्रारम्भिक कृत्य है और उसमें प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थ भी ऐसे ही होने चाहियें, तो भी ऐसे अर्थों के साथ यदि दूसरे प्रकार के पदार्थों का ज्ञान भी मनुष्य को हो जावे, तो इससे भी उसकी ज्ञान वृद्धि ही होगी। इसी दृष्टि से मैंने इस रहस्य को देखा और उपयोगी पाया। मुझे विश्वास है कि अन्यों को भी उसकी उपयोगिता प्रकट होगी। इन्हीं शब्दों के साथ पुस्तक जनता के सन्मुख उपस्थित करते हुए आशा की जाती है कि बहु संख्यक पाठक इस से लाभ उठाकर लेखक का उत्साह बढ़ावेंगे।

रामगढ़ } नारायण स्वामी
२०-७-४२ } (भूतपूर्व प्रधान—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा)

धन्यवाद

इस पुस्तक के लिखने में और यत्र-तत्र संशोधन एवं प्रमाणादि संकलित करने में, मुझे श्री पं० सत्यकाम जी भारद्वाज M. B., B. S., M. D., Zeug तथा श्री पं० चन्द्रभानु जी सिद्धान्तभूषण, पुरोहित आर्य समाज, नई देहली, से यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई है। इन विद्वानों की कृपा का मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

दीनदयालु

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
१	१६	नदी, तीर,	नदी तीर,
७	३	कुँडलिनी	कुंडलिनी
८	१५	श्रोत	स्रोत
२६	१६	धारण	धारणा,
३२	२२	तप-पंज	तप-पुंज
४८	८	व	वा
५६	१५	भूतानि	भूतानि'—
५८	१	ंत्र	मंत्र
५६	१२	भुवनाः	भुवना
६०	१	संगित	संगति
६०	१४	शतपंथ	शतपथ
६१	२१	सम्यक	सम्यक्
६६	१५	गृहणाति	गृह्णाति
६८	१०	समुदात्	समुद्रात्
७१	१३	सृष्टि	सृष्टि
७२	१७	प्राण और मन	मन और प्राण
८०	१३	अभिद्ध	अभि-इद्ध
८१	७	जीवन	जीव
८६	१६	विद्ध	बिद्ध

९६	१४	विशिष्ठ	विशिष्ट
१०४	७	परः कृष्णां	परः+कृष्णां
१०६	६	मिश्रत	मिश्रित
१०६	८	(आदित्य) में	(आदित्य)
		देकर	रूप देकर
१०६	१४	भूमौ	भूमो
११३	१०	आदित्यौ	आदित्यो
११५	५	त्तुद्र	क्षुद्र
१२१	१४	वसु	वसु
१३४	११	और और	और
१३५	११	रढ़ी	रीढ़
१३५	१५	सम्राज्य	साम्राज्य
१५५	१०	सत गुण	सत्वगुण

॥ ओ३म् ॥

* सन्ध्या से पूर्व वक्तव्य *

स्तुतिसन्ध्योपासना को ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। स्तुति गुण गान को कहते हैं। ईश्वर के गुण गान से ईश्वर जैसे गुणों का स्वभावतः उदय स्तुति करने वाले में होने लगता है। ईश्वरीय गुणों के गाने से मनुष्य का मन धीमे २ ईश्वर की ओर खिचता है। उपासना, समीप बैठने को कहते हैं। सांसारिक उलझनों में फंसे रहने से मनुष्य का मन स्थिर नहीं रहता, इष्ट पदार्थ तक पहुंचना उसे कठिन हो जाता है। ऐसा चंचल मन ईश्वर जैसे गुह्य विषय के चिन्तन से भाग २ कर विषयान्तरों में जाता रहता है। अतः सन्ध्या और उपासना मन्त्रों द्वारा हम कुछ विचार-धारायें इस प्रकार की उत्पन्न करते हैं कि मन भिन्न २ विषयों से ईश्वर की ओर लौटाया जा सके। बार २ के अभ्यास से मन और बुद्धि, सात्विक (प्रकाशमय) भक्ति और ज्ञान का आश्रय लेने लगते हैं। यही मनुष्य का ईश्वर के समीप ठहरना अर्थात् ईश्वर की उपासना है, क्योंकि जीवों के प्रति स्नेह और ज्ञान यह दोनों ही ईश्वर के गुण हैं।

एकान्त शुद्ध स्थान में कुछएक मिनट टहल कर अथवा उपवन, नदी, तीर, अरण्य, गुफ़ा, व पर्वत स्थान में प्रातः, सायं

वा अन्य किसी भी समय, प्राकृतिक दृश्यों के सुखद, दिव्य, तथा मनोहर अनुभव को मन में लाओ। फिर बैठ कर उस अनुभव को, अर्थात् सुख की प्रतीति को मन से त्याग कर उस सुख के अन्तःतल में मन को ठहरने दो, सुख को अ[illegible]त्य) खड़ा रक्खो। क्षणमात्र निज सत्ता में ठहरो—तुरन्त सुख कर ठीक परली ओर निज सत्ता के अन्तःपटल में एक कल्पनातीत सो अदृश्य ईश्वर के प्रति मानसिक प्रणाम करो। वार २ सुख[illegible]यो अनुभव को, प्राकृतिक दृश्यों से कभी मन्त्रार्थों से, संगृहीत करो [illegible] तथा उन्हें मानसिक झटके से वार २ अलग खड़ा करके अपना दृश्य बना लो मानों सुख तुमसे अलग तुम्हें दिखाई देता हो। धीमे २ सुख भाव विलीन होने लगेगा, तभी निज सत्ता में ठहर कर ठीक परली ओर सुखद अनुभव तथा निज सत्ता में व्याप्त अन्तःतल स्थित, अदृश्य कल्पना अतीत ईश्वर को मानसिक प्रणाम प्रेमपूर्वक करो। इसी प्रकार दिन भर की चिन्ताओं और दुःख के भावों को संगृहीत कर अलग खड़ा करके उन्हें, स्वयं तटस्थ होकर, इकट्ठे रूप में देखो, तथा ठीक परली ओर ईश्वर को पूर्ववत् प्रणाम करो।

सात्विक, राजसी, तथा तामसी—प्राकृतिक गुणों के प्रति हमारी अनुकूल व प्रतिकूल वृत्तियों का उदयमात्र, सुख दुःख हैं। अतः दोनों को समभाव से अपने से पृथक् देखो, तथा ठीक परली ओर, गाढ़तम अन्धकार में, जहाँ कल्पना नहीं रहती—एक क्षण स्थिर रह कर—अदृश्य को प्रेमपूर्वक अपना

स्वामी, पिता, माता, पत्नी, भ्राता, पुत्र आदि प्रत्येक रूप में तथा अनेक रूप में वरण करो। यदि अदृश्य में मानसिक भक्ति से को अलंकृत करो और अलंकार का, यदि कोई रूप, ध्यान में, तो उसे सुखात्मक अनुभव मान कर, कल्पनागत, प्राकृतिक मात्र समझो। अतः उसे भी झटके से अलग खड़ा कर दो र उसके परली ओर अदृश्य में, अन्तःतल में, निराकार वर के साथ सहचारी भाव से रहे आओ। उपासना का रम्भ हुआ जानो।

उपासना मन्त्र, अर्थ और भावना के साथ ही, मन को ईश्वर तक पहुंचाने में सहायक तथा फलदायक होते हैं। मन्त्रों द्वारा उपासना, परम उत्कृष्ट तथा अनन्त रूपवाली—प्रत्येक मनुष्य के निज २ स्वभाव के अनुकूल भिन्न २ होती है। अतः मन्त्रों को निज दैवी सम्पत्ति जान कर, अपने अनुकूल, अनुभव में लाओ।





* ओ३म् की व्याख्या *

योग दर्शन समाधिपाद सूत्र २७–२८ में कहा है :—

"तस्य वाचकः प्रणवः",
"तज्जपस्तदर्थ भावनम्"।

अर्थात्—'ओ३म्' उस सर्वज्ञ ईश्वर की व्याख्या करने वाला नाम है। इस 'ओ३म' का जप, अर्थ और मानसिक अनुभव के साथ करना चाहिये।

छन्दोग्य उपनिषद् में लिखा है:—

'ओ३म्' इति एतद् अक्षरं उद्गीथं उपासीत्, 'ओ३म्' इति हि उद्गायति, तस्य उपव्याख्यानम्... स एष रसानाꣳरसतमः परमः॥ (छां० प्र० १ खं० १ मन्त्र १–३)

'ओ३म्' यह अक्षर—अविनाशी ब्रह्म का द्योतक है। यह उद्गीथ है—इसी का उच्च स्वर से गान किया जाता है। इस 'ओ३म्' की व्याख्या ऐसे जानों कि 'ओ३म्' ब्रह्म ही "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, औषधि, पुरुष, शरीर, वाणी, ऋक् (ज्ञान), तथा क्रम प्राप्त 'साम' अर्थात् उपासना" इन सब आनन्दवर्धक रसों में अन्तिम रस है। यही सबसे सूक्ष्म रसों का भी रस है।

ओ३म्—"अ, उ, म, ~" इन चार मात्राओं का समुदाय,

चतुष्पाद ब्रह्म अर्थात् अविनाशी ब्रह्म की चार कलाओं की उपासना का साँकेतिक शब्द है। 'ओ३म्' का जो अर्थ मांडूक्य उपनिषद् के आधार पर मिलता है तथा जिसके अनुसार, 'ओ३म्' की चारों मात्राओं का जो योगी उपासना द्वारा, ब्रह्म के चार पाद-स्वरूप, चार अवस्थाओं में साक्षात् करता है—उसका विस्तृत सविस्तार वर्णन आगे नक्शे में देखें।

'ओ३म्' की उपासना हेतु—अ, उ, म, ~ इन चारों पादों के विवेचन को ध्यान में रख लेना अति आवश्यक है। जागृत अवस्था में जो कार्य होते देखे सुने जायं, उनका सदा आदि मूल ईश्वर को जानना 'अ' की उपासना होगी। इसी प्रकार सूक्ष्म परमाणुओं में सूक्ष्म क्रियाओं के आधार का, मंत्र व बुद्धि द्वारा ध्यान 'उ' की उपासना होगी। गहन सुषुप्ति में नित्य हम 'म' रूप ब्रह्म से साक्षात् करते हैं। योगीजन अहंकार आदि अन्तः करणों को शान्त वाहिता रूप में देख 'म' रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं। उपासना मानो, ईश्वरीय गुणों का अति समीप से अनुभव करना है, और तद्गुण अनुरूप बनने के हेतु स्तुति, सन्ध्योपासना का विधान है।

भागता ही है, तो फिर यह बाह्य विषय—मेरी अभिलाषाओं के ध्येय (आपः) विस्तृत हों, एक देशीय न हों, अनन्त में ग्राह्य हों, फिर तो, बाह्य और भीतरी, विषय और मन, दोनों का अनन्तता में मेल होगा ही। आपकी दिव्यता ही तो अनुभव में आयेगी। मैंने आज सुख की अभिलाषा हेतु, इस ब्रह्म यज्ञ में, (देवीः) दिव्य शक्तियों का, चाहे वह बाह्य प्रकृति में हों, अथवा शरीरस्थ इन्द्रियों में हों, आह्वान किया है। अतः जो विकार, नश्वरता, थकान आदि, सुख से मुझे वंचित करते रहे हैं इन्हें दूर करूँ। पवित्रता और अमरत्व आओ, प्रथम मेरी इन्द्रियों को दिव्य बनाओ। इस शरीर में, इन इन्द्रियों को ही तो मैंने सुख का साधन जाना है। आओ इनकी सहायता से किंचित्, विश्व की विभूतियों का साक्षात् करें। वह बाह्य और आन्तरिक विभूतियाँ ही तो सुख की वर्षा करेंगी। सुना है 'ओ३म्' तू ही इन दिव्य शक्तियों का आधार और स्रोत है, तेरा साक्षात् ही तो इन्हें भी सुलभ कर देता है। अतः चलें, पग २ करके, ब्रह्म दर्शन की ओर, जिस से सांसारिक भय दूर हो और शान्ति का विस्तार हो।

इस मन्त्र 'शन्नो देवी' द्वारा आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक तीनों दुःखों की मानों शान्ति कर, ३ बार आचमन करने के उपरान्त, शान्ति रस का पान करते हुए, यश और बल की प्राप्ति के हेतु अङ्ग स्पर्श द्वारा, अब मानसिक भावना जाग्रत करते हैं।



अथ अङ्ग स्पर्श मन्त्राः

ओ३म् वाक् वाक् । ओ३म् प्राणः प्राणः । ओ३म् चक्षुः चक्षुः । ओ३म् श्रोत्रं श्रोत्रम् । ओ३म् नाभिः । ओ३म् हृदयम् । ओ३म् कण्ठः । ओ३म् शिरः । ओ३म् वाहुभ्यां यशोबलम् । ओ३म् करतल करपृष्ठे ॥ २ ॥

वाणी-रसना, दोनों नासिका छिद्र, दोनों चक्षु व श्रोत्र, नाभि, हृदय, कण्ठ, शिर, दोनों वाहु, तथा हथेली और हाथ का पृष्ठ भाग—इन अङ्गों में मानसिक क्रिया द्वारा वल संचार करो। उपरोक्त मन्त्रों सहित भिन्न २ अङ्गों का स्पर्श करते हुए, यह भाव रहे कि इनका प्रयोग हमें यश और वल का देने हारा हो।

—:o:—

अथ मार्जन मंत्राः

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि । ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः । ओ३म् स्वः पुनातु कंठे । ओ३म् महः पुनातु हृदये । ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम् । ओ३म् तपः पुनातु पादयोः । ओ३म् सत्यं पुनातु पुनः शिरसि । ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

—:o:—

(इस मन्त्र से सिर पर जल डालना)

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि ।

अन्तिम ध्येय 'सत्य' द्वारा 'शिर की पवित्रता की पुनः प्रार्थना करते हैं।

—:o:—

(शिर से पुनः एक वार जल स्पर्श करें)

ओ३म् सत्यं पुनातु पुनः शिरसि।

अर्थ—सत्य स्वरूप परमात्मा शिर को फिर पवित्र करे।

भावार्थ :—

हमारा यह अनुभव हो कि सत्य स्वरूप ब्रह्म ही इस जगत को भिन्न भिन्न रूप से अर्थात् 'भूः' वनकर पालन करता, (भुवः) वनकर विनाश करता, (स्वः) वनकर सुखमय बनाता, (महः) रूप हो महान् वनाता, तथा (जनः) नित नई सृष्टि रचता और (तपः) ज्ञान मय तप से जीवों के कल्याण हेतु प्रकृति को क्रिया शील वनाता है। एतदर्थ लोक में हमारा भी यही ध्येय हो कि सव कुछ शुभ आचरण करते हुए हम भी निज मस्तिष्क (शिर) में सदा सत्य विचारों को जन्म दें; निज वुद्धि वल द्वारा उन कार्यों का ही सम्पादन करें जो सदा स्थिर सुख के देने हारे हों। सत्य आचरण करते हुए, हम सत्य स्वरूप ब्रह्म को ही बुद्धि में धारण करें, जिससे हमारी वुद्धि (शिर) परिष्कृत, और पवित्र हो।

—:o:—

प्राणायाम

योगदर्शन में कहा है कि "प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य" *प्राण वायु (श्वास वायु) के बाहर निकालने तथा भीतर रोके रखने से मन एकाग्र होता है। योग के आठ अंगों में से प्राणायाम भी एक अंग है। वस्तुतः प्राणायाम का अर्थ 'प्राणशक्ति' का वश में करना है। प्राणशक्ति इस शरीर में "प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान" पंचधा वर्तमान है। कोई कोई आचार्य प्राण के पांच और भेद बतला कर १० प्राणों का वर्णन करते हैं। वे शेष पांच प्राण यह हैं—देवदत्त (Sensation) धनंजय (Motor), कृकल (कंठ), कूर्म (कश्यप-ज्ञान सम्पादक), नाग (कुण्डलिनी)। जिसने प्राण शक्ति को वश में कर लिया उसके अपरिमित वल और ऐश्वर्य का क्या ठिकाना— ब्रह्मचर्यादि यम नियम यदि साथ में पालन किये हों, तो मनुष्य का इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण निश्चित ही है। योग दर्शन में संकेत मात्र, केवल इतना भर कह दिया है कि, श्वास प्रश्वास की गति रोकने से मन एकाग्र होता है। इतना कह कर 'प्राणायाम'—प्राण को किस प्रकार वश में किया जावे—इस विषय को गुह्य रहस्य जान कर स्पष्ट नहीं किया है। ठीक ही है, असंयमी, तामसिक आहार विहार युक्त, अधिकतर प्राणी यदि प्राणायाम

* यो० द० पाद १ सूत्र ३४।

जैसी रहस्यमयी क्रिया को करने लगें, तो वे अपना नाश ही कर डालें। एतदर्थ, यह विद्या, केवल स्वाध्यायरत, सदाचरणयुक्त, मुमुक्षु जनों के हित उपादेय है। अतः, सात्विक आहार विहार और यम नियम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर भक्ति)—इन व्रतों का जो पालन करते हैं, उन्हें ही प्राणायाम की गूढ़तम क्रियाओं में प्रवेश करना चाहिये। साधारण क्रिया तो सभी कर सकते हैं। पाठकों के लाभ हेतु, साधारण क्रिया तथा विशेष क्रिया साँकेतिक रूप में, दोनों ही हम यहाँ लिख देते हैं। विशेष क्रिया द्वारा कम से कम योगी को ब्रह्म की अनन्तता, महद् ऐश्वर्य और अनन्त विभूतियों की किरण मात्र का आभास मिलता है, एतदर्थ हम यहाँ उसे भी कुछ कुछ लिखेंगे। तथापि यह ध्यान रहे कि प्राणायाम की विशेष क्रियाओं से प्रबल विद्युत् वेग का शरीर में आक्रमण होता है जो उसे धारण करने में यम नियम, जैसे बल से समर्थ हों वे ही उधर जाने की हिम्मत करें, अन्यथा हानि संभव ही नहीं, अनिवार्य है।

प्राणायाम की साधारण क्रिया

चार साधारण क्रिया हैं, (१) रेचक, (२) पूरक, (३) बाह्याभ्यंतर वृत्ति), (४) निरोध परिणाम।

१. रेचक—नाभि के निम्न भाग को ऊपर कुछ आकर्षित कर प्रश्वास को धीमे २ बाहर जाने दो (निकालो मत)—यदि

प्रश्वास के होते हुए शव्द पर 'ओ३म्' का अनुमान करते हुए अथवा 'ओ३म् भूः' सहित प्रश्वास पर, यदि ध्यान रखा जावेगा तो पूर्ण प्रश्वास वाहर निकल जावेगा। फिर फेफड़े में रिक्त स्थान में हलकी गर्मी का अनुमान कर उसे रक्त प्रवाह के साथ २ सारे शरीर में थके हुए अंग भाग को पुनर्जीवित करते हुए अनुभव करते रहो। किसी भी रोग ग्रस्त अंग में, ध्यान सहित, इस फेफड़े की गर्मी को, जो रक्त में श्वास वायु के संयोग से उत्पन्न हुई थी—जाने दो —उसे 'भूः' प्राणशक्ति पुनर्जीवित कर रही है। रेचक प्राणायाम समाप्त हुआ—इसमें संख्या का (काल निश्चित करने हेतु) कोई २ विधान करते हैं, पर वह ध्यान में बाधक है। हाँ, प्रारम्भ में प्राणायाम के समय को बढ़ाने का अभ्यास करने के हेतु भले ही इस संख्या के नियम से श्वास वाहर रोके रहें। ध्यान पूर्वक 'भूः' के अर्थ सहित, प्रश्वास और प्राणशक्ति पर संयम करने से प्राणायाम का समय स्वयमेव बढ़ता है। सुख पूर्वक जब श्वास की लेने की इच्छा उठे तभी रेचक समाप्त होगया। श्वास को धीमे धीमे आने दो 'कुम्भक वा पूरक' प्राणायाम प्रारम्भ हो गया। प्रश्वास की पूर्णता तक 'ओ३म् भूः' की केवलएक आवृत्ति का रेचक में अभ्यास डालो। फिर जब फेफड़े में स्थित 'गर्मी'—प्राण, पर ध्यान हो तो "ओ३म् भूः" का उच्चारण न हो केवल इस गर्मी-प्राण द्वारा "ओ३म् भूः" का—परिपालन आदि रूप क्रिया का साक्षात् अनुभव करो। प्रश्वास वा श्वास वायु को प्राण नहीं कहते—यह वायु तो उस

फेफड़े में उत्पन्न होने वाली गर्मी तक आपको पहुंचा देगी वह गर्मी ही आप का ग्राह्य 'प्राण' है। इसी गर्मी की गति को पहिले होता हुआ बिना प्रयत्न देखते रहो, यह ही "ओ३म् भूः" का साक्षात अनुभव भी प्राप्त करावेगी। धीमे धीमे इसकी गति विधि पर ध्यान देते २ आपका मन भी एकाग्र होगा और शीघ्र ही यह (गर्मी) प्राण स्वयमेव आपके हाथ में—अर्थात् वश में हो जायगा। यह गर्मी ही, अन्न का उदर में, रक्त संचार के साथ २, पाचन करती है अतः 'रेचक' इस प्राणायाय का नाम है।

२. पूरक वा कुम्भक प्राणायाम

सुख पूर्वक श्वास को धीमे २ "ओ३म् भुवः" के साथ भीतर फेफड़े में आने दो। मुख से वा कण्ठ से, वा मन से भी, निज प्रयत्न से, 'ओ३म् भुवः' का उच्चारण नहीं किया जायगा। वरंच, श्वास भीतर आते हुए—मानों 'ओ३म् भुवः' यह नाद हो रहा है—इस भाँति सुना जायगा। श्वास के नाद पर अथवा जिस श्वास नाली के स्थान विशेष पर श्वास वायु स्पर्श कर रहा है, वहाँ, उस श्वास के नाली के उस स्पृश्य स्थान विशेष पर ही, मन को लगाये रहने से श्वास आता ही आता चला जायगा। साधारण श्वास से लगभग दूना वायु फेफड़े तथा उदर को पूरा २ भरता जायगा। पूर्ण होने से कुछ पूर्व, श्वास का आना बन्द हो जावे तब "ओ३म् भुवः" का "रक्त शुद्धि रूप" साक्षात् जो फेफड़े में कार्य हो रहा है उस कार्य में मन लगाओ। जो गरमी फेफड़े में

रक्त के अन्न भाग और श्वास वायु सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न हो रही है वह 'भूः' प्राण रूप से रक्त में जा रही है। परन्तु अन्न भाग का भस्मीभूत परिणाम-दूषित वायु फेफड़े में बनता जा रहा है। इसे बाहर फेंकने का प्रयत्न भीतर हो रहा है। मल के पृथक होने में अपान वायु का कार्य है। मल को थके अंग भाग से रक्त में फेंकना सर्वत्र शरीर में हो रहा है। प्राणवायु (Oxygen) को फेफड़े में आया पाकर, दूषित रक्त का फेफड़े में चारों ओर से खिंच कर आना अपान वायु है। अतः फेफड़े में दूषित रक्त से युक्त जो प्रेरणा उस मल के निवारण हेतु आ रही है वह प्राण का दूसरा रूप अर्थात् अपान है। यदि श्वास वाहर अधिक रोका जावे तो शरीर में घवराहट पैदा होती है मानों भीतर से पम्प द्वारा वायु बाहर निकाली जा चुकी हो और रिक्त स्थान में वायु खिंच रही हो। यह खिंचना ही 'अपान' प्राण का रूप है। श्वास न मिलने पर दम घुटना—रक्त में दूषित और अन्न भाग की बहुलता के कारण होने लगता है, यही 'अपान' मृत्यु है—'भुवः' है। रिक्त स्थान में, वायु को खींचने का अर्थात् रक्त शुद्धि के हेतु जो प्रयत्न 'फेफड़े' में हो रहा है, वही अनुभव से देखो 'ओ३म् भुवः' का यही जप है। उच्चारण 'ओ३म् भुवः' का न करें अपान वायु की क्रिया को होते देखें। यही अर्थ सहित 'ओ३म् भुवः' की भावना पूर्ण उपासना है। यह 'घबराहट' जैसा अपान प्राण का कार्य फेफड़े में संचित दिखाई दिया है। वास्तव में अंग प्रत्यंग में, शुद्ध

रक्त में, दूषित तथा नष्ट भ्रष्ट थके हुए अंग-मल का गिर कर फेफड़े में खिंच आना रूप, अपान वायु का कार्य निरन्तर हो रहा है; स्थान २ पर उसे होते देखो। अपान वायु से तड़ित श्वास वायु को बाहर फेंकना, उदान वायु का कार्य है। सम अवस्था का अंग प्रत्यंग में धारण होना वा शुद्ध होने पर रोम-हर्ष, यह समान व व्यान वायु के कार्य हैं। इस प्रकार पूरक वा कुम्भक समाप्त हुआ। क्रमशः श्वास बाहर फेंक 'ओ३म् स्वः' तथा पुनः भीतर खींच 'ओं३म् महः' के अनुभव के साथ रेचक व कुम्भक का अभ्यास करो। भूः, भुवः, स्वः महः, जनः, तपः, सत्यम्—इन व्याहृतियों के अर्थ, प्राणायाम में प्रयोग हेतु, आगे दिये हैं वहाँ से लेना—

रेचक वा कुम्भक में स्वयं द्रष्टा बन कर होती हुई क्रियाओं को ध्यान से देखना उत्कृष्ट है, स्वयं प्रयत्न करना हेय है। इस प्रकार करते २ प्राणायाम का अभ्यास बढ़ता है—मन विचलित न हो कर एकाग्र होता है। प्राण शक्ति पर भी धीमे २ कुछ अधिकार होने लगता है।

—:o:—

वाह्याभ्यन्तर वृत्ति और निरोध परिणाम प्राणायाम

वाह्याभ्यन्तर वृत्ति और निरोध परिणाम — प्राणायामों में—बाहर जाती श्वास को जाने न देना, तथा भीतर आती

श्वास को आने न देना वाह्याभ्यन्तर वृत्ति है। तथा किसी भी श्वास-प्रश्वास की अवस्था में, अचानक यथावत् रोक कर, श्वास व प्रश्वास की होती हुई गति को तुरन्त बन्द कर, आगे न होने देना, निरोध परिणाम प्राणायाम है। यही गीता में कहे, प्राण की अपान में तथा अपान की प्राण में * आहुति देना है, और प्राण-अपान की गति का रुद्ध करना है। इस अभ्यास को सुख पूर्वक करने के हेतु, प्राण और अपान इन दोनों का शरीर, में साक्षात् अनुभव अति सहायक होता है, क्योंकि रोकने का क्रियात्मक युद्ध, नासिका छिद्र में अति कठिन तथा प्रयत्न का परिणाम होने से, हेय है। यदि जहाँ प्राण-अपान उदय हो रहे हैं, वहीं मानसिक ध्यान द्वारा उनको अनुभव किया जावे, तथा तैजस परमात्म विभूति में मन को रोक लिया जावे, तो यह प्राण की प्राण में आहुति देना रूप यज्ञ † है। इस क्रिया से धौंकनी जैसे युद्ध की आवश्यकता नहीं रहती। विशेष अभ्यास से यह क्रिया सुगम हो जाती है। मन तुरन्त शान्त होने लगता है। और इन दोनों क्रियाओं के फलरूप, प्राणायाम का समय अति अधिक होकर, दीर्घ काल तक ध्यान सुलभ हो जाता है। इस क्रिया को दूसरी प्रकार से सरल करने का उपाय विशेष प्राणायाम की क्रिया के व्याख्यान में आगे लिखेंगे। यह विशेष क्रिया, केवल यम निमय के अभ्यासी, सदाचारी, सात्विक

* गीता अध्याय ४ श्लोक २६

† गीता अध्याय ४ श्लोक ३०

आहारी, उपासक करें।

—:o:—

प्राणायाम का रहस्य और विशेष क्रिया

श्वास प्रश्वास की रस्सी के सहारे चल कर, प्राणरूप सूक्ष्म तेज के, गाढ़तम-रहस्य भरे क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है। पहिले नासा छिद्र में होकर जो श्वास आता जाता है, उस पर ध्यान दो। समभाव से आते जाते श्वास को देखते रहो। केवल ओ३म् की आते जाते ध्वनि अनुमान करो। नासिका की नाली के जिस भाग पर श्वास छूता है, उसे अनुभव करो। फिर भिन्न २ नासिका नाली के प्रदेशों पर श्वास वायु को छूता हुआ अनुभव करो। अभ्यास के लिये भिन्न २ गन्ध लेकर नासिका प्रदेश के कौन २ भाग पर कौन २ गन्धवायु छूता है यह अनुभव करके—उसी अभ्यास को स्मृति की सहायता से श्वास-प्रश्वास के समय—बिना गन्ध की सहायता के दोहराओ। यहाँ तक ग्राह्य विषय अर्थात् दिव्य गन्ध सम्बन्धी सिद्धि का अभ्यास हुआ। अब जिस नासिका छिद्र में वायु चलता हो उससे विपरीत नासिका छिद्र में, केवल स्मृति की सहायता से विपरीत नासिका छिद्र के भिन्न २ भागों पर वायु स्पर्श का अनुभव करो। इस प्रकार शीघ्र ही जिस भी नासिका छिद्र से जिस स्थान पर इच्छानुकूल चाहें श्वास-प्रश्वास आ जायेगा। अब श्वास-प्रश्वास

की गतिको सम करो, फिर क्रमशः दाहिने बायें नासा छिद्र से स्मृति और स्पर्श के अनुमान पूर्वक, श्वास-प्रश्वास को क्रमित करो, कि, दायें फिर बायें, फिर दायें फिर बायें, नासा छिद्र से बार २ श्वास-प्रश्वास क्रमशः आवे जावे। इसी अभ्यास को पुनः दाहिने से श्वास ले प्रश्वास छोड़, फिर क्रमशः बायें नासा छिद्र से श्वास-प्रश्वास ले और छोड़ कर, बार २ दृढ़ करो। पुनः दोनों से सम श्वास प्रश्वास आने जाने दो। फलतः श्वास-प्रश्वास पर आपका इच्छा-स्वत्व प्राप्त होगा। अभ्यास दृढ़ हो जाने पर, श्वास-प्रश्वास रूप रस्सी को छोड़ दो। मन में दिमाग़ से ले मूलाधार तक रीढ़ की हड्डी को, विचार की गति का क्षेत्र बनाओ। मूलाधार को (श्वास गति में फेफड़े की भाँति) विचार का गन्तव्य क्षेत्र बनाओ; अथवा अधिक अच्छा हो यदि भ्रकुटी (नेत्र और नासिका के संयोग स्थान) को ध्यानगति का क्रीड़ास्थल बनाओ। प्रारम्भ में श्वास गति से, ध्यान की गति की समता करो। दाहिने श्वास प्रश्वास को—पिंगला नालिका में ध्यान की ऊर्ध्व अधोगति समझो। बाँये श्वास-प्रश्वास का इसी प्रकार सहचार ईडा नालिका के सहारे, ध्यान की ऊर्ध्व अधोगति से करो। श्वास-प्रश्वास पर से ध्यान हटा, ईडा व पिंगला के किनारे ध्यान द्वारा क्रमवार कभी दाहिनी ओर कभी बाईं ओर तो कभी ऊर्ध्वगति कभी अधोगति करते हुए अर्थात् अनेक रूप से, क्रम, समय, तथा समता पर ध्यान रखते हुए इस मनोगति का अभ्यास करो। दाहिनी

ओर से बाईं ओर वा बाईं ओर से दाहिनी ओर जाते समय मूलाधार के मोड़ पर घूम कर आओ जावो। इस प्रकार समक्रिया के अभ्यास के साथ साथ, श्वास-प्रश्वास, स्वयमेव, अधिकृत चलते रहेंगे, उन पर ध्यान देने की आवश्यकता न रहेगी। अब मूलाधार तक श्वास रूप गति ईडा पिगंला के दोनों ओर से—साथ साथ आने दो और दोनों को मूलाधार पर घूम कर दूसरी ओर से अर्थात ईडा वाली ध्यान गति को पिंगला की ओर से, तथा पिंगला वाली को ईडा की ओर से जाने दो। फिर इसकी विरुद्ध क्रिया करो। इन दोनों क्रियाओं का क्रम वार अभ्यास करो। पुनः मूलाधार तक दोनों ईडा पिंगला की राह श्वासरूप ध्यान गति को लाओ, और उसी मार्ग वापिस ले जाओ। यहाँ ध्यान योग्य बात यह है कि ऊर्ध्व गति में रिक्त स्थान के फैलने रूप * अनुभव को होने दो, तथाच ध्यान की अधोगति में रिक्त स्थान के भरने† का अनुभव होने दो। इस भाँति मूलाधार में वा त्रिकुटी में प्राणाग्नि में अपान रूप समिधा, एवं अपानाग्नि में प्राणरूप समिधा की आहुति द्वारा तेज प्रकट होगा। सम और क्रमशः गति, जो प्रत्येक उपरोक्त गतिक्रम में अभ्यास गत होती जावेंगी—ध्यान रूप मनोगति को, विद्युत् रूप में बदलती जावेंगी, जिसकी बैटरी त्रिकुटी व मूलाधार चक्र को जानो। यह बैटरी इतने मनोमय तेज से भर

---

* Wave of rarefaction

† Wave of compression

जायगी कि इसमें से विद्यूत् (चिनगारी जैसे रूप में)—कहीं भी झटक कर जाने के योग्य होगी। मूलाधार चक्र में, यदि रोहित-लाल वर्ण वाली, तेज अग्नि पर ध्यान दिया जावे, तो उसके केन्द्रीय अन्तः तल में, नीलमय तेज का पुंज प्रकट होगा। यदि इसमें मन को डुबकी दे दी जाय, कि वह इस तेज के अन्तः तल में जा बैठे, तो यह नील तेज रीढ़ की हड्डी के केन्द्रीय भाग सुषुम्णा नाल में उठकर—क़दम २ पर—भिन्न २ चक्रों पर, उछल कर पहुंचेगा। इस नील तेज का क्रमशः चक्र २ पर उछल कर पात होना, मानों उस केन्द्र को प्रज्वलित करना है। केन्द्र का प्रज्वलित होना, मानों केन्द्रस्थ विश्व और अन्तर्जगत की दिव्य अनन्त विभूतियों को प्रकाशित करना है। यहां संयम की आवश्यकता होती है, नहीं तो यह मूलाधार में बैठी उमा रूप प्रकृति की देवी (दिव्य शक्ति का भंडार) कुंडलिनी, तड़ित हो मनुष्य के जिस भाग पर भी गिरेगी, उसी अंग को झुलसा डालेगी। इसी भांति, पर इससे कम हानिकारक, त्रिकुटी को क्षेत्र मान कर मन की ऊर्ध्व-अधोगति का क्रमशः अभ्यास है। इस अभ्यास में कुंडलिनी के तड़ित व कुपित होने की आशंका कम है। किसी भी केन्द्र में प्राण वा विद्युत् का संयम अनोखे सूक्ष्म प्रकृति के खेलों को, स्फुट करता है। यह सिद्धि का मार्ग है। साधु चारी सज्जन ही केवल इसे अपनावें। भारी से भारी चमत्कार इस मार्ग में मिलते हैं, जो ईश्वर की दिव्यता में प्रगाढ़ श्रद्धा व भक्ति, साधूओं के हृदय में उत्पन्न करते हैं। साधु लोग

इन्हें बड़ा पावर हाउस समझ कर दूर रहते, सीधे २ ओ३म की राह चले जाते हैं। किंचित भी अज्ञानयुत पुरुष, चमत्कारों के उपवन में फँस, वासनाओं के शिकार बन, नष्ट हो जाते हैं; और पुनः जन्मजन्मान्तर के लिये ऐश्वर्य-मद-मोह-विषय जंजाल में अपने संचित योग-क्षेम को नष्ट कर लेते हैं। इति।

—:o:—

प्राणायाम के योग्य सप्त व्याहृतिओं के अनुभवजन्य अर्थ, भावना सहित।

"ओ३म् भूः" (ओ३म् भूः पुनातु शिरसि)

प्रश्वास के उपरान्त-प्राणवायु (औक्सिजन) द्वारा, फेफड़े में शुद्ध हुए रक्त का शरीर में संचार होता हुआ अनुभव करो, रक्त प्राणवायु से मिल कर, गरमी (अग्नि) का शरीर में संचार करता है, इस अग्नि द्वारा अंग-प्रत्यंग में बल उत्पन्न होता है। अतः तुम भी इस अग्नि-संचार द्वारा अंग-प्रत्यंग में नवजीवन उत्पन्न होते देखो। यह नवजीवन (प्राण) ही—जो एक रस रूप शरीर में, प्रश्वास के उपरान्त, बहने लगा है "भूः" प्राण स्वरूप ईश्वर है। इसके समीप मन को ठहराओ। विशेषतया शिर में प्रश्वास के उपरान्त जाते हुए शुद्ध रक्त से मस्तिष्क के थके अंग में नवजीवन आने दो। मस्तिष्क को ढीला छोड़ो। यदि सुविधा हो तो प्राणशक्ति की पालन रूप क्रिया का विवेचन इस सृष्टि में करो।

"ओ३म् भुवः" (ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः)

श्वास भीतर आने दो। दूषित रक्त फेफड़े में इकट्ठा हो गया है। वहां श्वास वायु (औक्सिजन) से युक्त हो, रक्त का मल भस्म होकर पृथक हो रहा है। नेत्रों में मन को ठहराओ। नेत्रों को ढीला होने दो। शरीर में से मल को दूर होते अनुभव करो। निज कर्मों में से दोष को देखो। उस दोष को मन से दूर होने दो। ढीले नेत्रों में फिर शुद्ध मन को ठहरने दो। "भुवः" मृत्यु (नाश) है। भुवः ही अन्तरिक्ष में होने वाला वह ईश्वरीय नियम है, जो शुद्धि हेतु मल को दूर करता है। जैसे प्रश्वास की दूषित वायु का वृक्षों द्वारा शुद्ध होना। पृथ्वी में मूत्र पुरीष आदि को गला कर पौदों में अन्न का उत्पन्न होना। फेफड़े में भी यही शुद्धि की क्रिया हुई है। ग्राह्य विषयों में से दूषित (नश्वरता रूप) विषयों का त्याग—नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा, संयमित मन की सहायता से होने देना चाहिये। विषयों के दोष का—ध्यान में—जब मन से त्याग हो रहा हो, तब ध्यानावस्थित पुरुष 'भुवः' रूप अन्तर्यामी परमात्मा का मानो साक्षात् कर रहा है—यह धारणा बलवती करो। 'भुवः'-मृत्यु के उपरान्त—जीव भी 'भुवः'—अन्तरिक्ष में पूर्व जन्म के अनुभव द्वारा दुःखदायी संस्कार को त्याग सुख हेतु नयी योजना का अपने बचे हुए संस्कारों में से निर्माण करता है और तदनुकूल नया जन्म लेता है। भुवः ही अपान है भुवः ही मृत्यु है भुवः ही अन्तरिक्ष (ख़ाली जगह) है जहां प्राण (भूः) खिंच कर पोल (vaccum) के कारण जाता

है। योग दर्शन में कहा है—'जात्यन्तर परिणामः प्रकृति आपूरात्'* अर्थात् प्रकृति खाली स्थान को भरती है इस सिद्धान्त से फल यह होता है कि अन्य योनि में जन्म (पुनर्जन्म) होता है।

—:o:—

"ओ३म् स्वः" (ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे)

'भुवः' की उपासना के उपरान्त शुद्धि हुई। शुद्ध होकर मन में हर्ष बढ़ रहा है। मन को कण्ठ में एकाग्र करो। शरीर शुद्धि के उपरान्त, मानों, आनन्द-स्फूर्ति की मन्द २ लहरें शरीर में उठती हुई आप देख रहे हो। इन लहरों को स्वयमेव उदय होने दो। कोई आभ्यन्तर प्रयत्न न करो। श्वास वाहर जाने दो। कण्ठ में संयम करते हुए शुभ कर्तव्य-कर्म सम्वन्धी नव योजनायें विचार में, चाहो तो, आने दो। उनमें सुख की मात्रा का सन्तुलन करो। स्वः का कंठ में जप होने दो। वाणी से न बोला जावे। इस सुखमय (स्वः) परमात्मा के निराकार रूप को कंठ में धारणा द्वारा जाग्रत करो और वहीं ठहरे रहो। मन विचलित होने पर उपरोक्त प्रकार 'स्वः' का जप, सुख का उदय, शुभ विचारों द्वारा भविष्य निर्माण—शुद्ध हुए रक्त द्वारा नव जीवन संचार—ये सव क्रियायें फिर से होने दो। कंठ में मन एकाग्र करो। श्वास वाहर जाने दो। इस प्रकार तीसरा प्राणायाम् (रेचक) कंठ में धारण ध्यान द्वारा पूर्ण करो। यदि अभ्यास

* यो० द० पाद ४ सूत्र २

हो तो सुख की अनुभूति में एकसार तन्मय हो समाधि लगाओ ।

—:o:—

ओ३म् महः (ओ३म् महः पुनातु हृदये)

श्वास भीतर लो । हृदय में धड़कन, फूलना तथा संकोच व हृदय की आकुंचन और प्रसारण गति के साथ २ रक्त का जाना आना होता है । हृदय में जो स्थिर केन्द्र है वहाँ मन को ले जाकर ठहरा दो, मानों तुम स्वयम् केन्द्र में बैठे हुए हो और इधर उधर हृदय-भाग नियमित गति कर रहे हैं । 'महः' शब्द की ध्वनि कण्ठ से प्रथम उदय करके, हृदय में होती हुई सुनो और उस केन्द्र में जहाँ तुम ठहर गये हुए—एक छोटे वृत्त वाले आकाश की कल्पना करो । इसका रंग गहरा नीला वा काला अनुमान द्वारा प्रतीत करो । इस नील आकाश की तह में मन को बैठने दो । आकाश का वृत्त (महः) महान होने लगेगा उसकी महत्ता में मन को भी विचरने दो । यही महः की उपासना द्वारा चौथा प्राणायाम समाप्त हुआ ।

—:o:—

ओ३म् जनः (ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम्)

महान् आकाश की हृदयस्थ तह में मन को रख कर श्वास को बाहर जाने दो । श्वास बाहर जाते समय इस प्रकार ध्यान में लाओ मानों नाभि का नीचे का भाग ऊपर खिंच रहा है । नाभि में मन को ठहराओ । 'महः' वाली महान् आकाश की

स्मृति को पुनः मन में लाकर यह अनुभव करो कि उस आकाश के परली ओर से जीवन रस की धारायें उदय हो २ कर आकाशस्थ विश्व वृक्षों को जीवन रस दे रही हैं। निज शरीर में भी नवजीवन देनेवाले रसों को रक्तविन्दु में स्थित 'महः' आकाश के परली ओर से बह कर आता हुआ अनुभव करो। नाभि को ढीला रहने दो—महः आकाश से परली ओर, जहाँ से जीवन रस उदय होकर आकाश तक आ रहा है—मन को ले जाओ—मन को परली ओर डूबने दो—बार २ उस जीवन रस के समुद्र की तह में उसे डूबते जाने दो वहाँ जीवन रस, स्निग्ध, हलका नीला, वीर्यमय उदय होकर बह रहा है। इन धाराओं में मन का ठहराना मानो 'ओ३म् जनः' की उपासना है। श्वास आने दो पाँचवां प्राणायाम् हो चुका।

—:o:—

ओ३म् तपः (ओ३म् तपः पुनातु पादयोः)

नाभि के निम्न भाग में, जीवन रस—स्निग्ध वीर्य रस रूपी स्रोत का, हम ने अनुभव किया है। गुदा तथा इन्द्रिय के मध्य-वर्ती स्थान में रीढ़ की हड्डी के नीचे की नोक से आधा अंगुल नीचे मूलाधार चक्र है, वहां आकाश में मन को ठहराओ। श्वास को आने दो, साथ ही, बल-वीर्य ऊपर को रीढ़ की हड्डी की मध्य नालिका (सुषुम्णा) में मानो ऊर्ध्व गति करना चाहता है यह भावना करो। मूलाधार के गहन तम आकाश में तप पुंज है,

जहां से जीवन रस की 'जनः' लोक की धारायें प्रभावित हो रही हैं। इस मूलाधार के गहनतम आकाश में तपती हुई सौम्य, सुखद, शान्तिप्रद, परन्तु तेजयुत हलकी २ अग्नि की ज्वालायें उठ रही हैं। इस अग्निपुंज के केन्द्र में अतिकृष्ण गहरा नीला संचित विद्युत् तेज है। अतः प्रथम वहां अपने जीवन रस को बहाने वाली, संचित वासनाओं को ज्ञान-दृष्टि से देखो फिर उन वासनाओं के केन्द्र में जो स्थिर सुख प्राप्ति व खोज की अन्तः वासना छिपी हुई है उसे खोज कर ज्ञान दृष्टि के समक्ष लाओ। जीवन रस वहाने वाली संचित वासनायें मूलाधार में प्रज्वलित सौम्य अग्नि की ज्वालायें हैं इन वासनाओं की ज्वालाओं के केन्द्र में अति कृष्ण उपरोक्त संचित गहरा नीला तेज ही सुख प्राप्ति की अन्तः भावना है। अतः ज्वालामय वासना क्षेत्र को विलीयमान होने दो और ज्ञान-दृष्टि को सुख-प्राप्ति की (नील वर्ण) अन्तः भावना में मिला दो। केन्द्र में बैठ वासनाओं का त्याग होने दो, अथवा मूलाधार के गहनतम (संस्कार समुदाय रूप) अति कृष्ण नील पुंज की तह में—"निज ज्ञान-दृष्टि संकोच कर"—निराधार बैठते जाने का अथक आत्मिक श्रम होने दो। संस्कार और वासनायें तुम्हें बार बार प्रकृति तल पर ऊपर उठावेंगी उनकी तह में भारी बन कर आत्म-भार से तुम बैठते जाओ। फल यह होगा कि वासनामय तथा सूक्ष्म व स्थूल शरीर, निश्चेष्टसा तुम्हें पृथक् पड़ा दिखाई देगा—तुम, तप-पंज, तेजोमय क्षेत्र में, आत्मज्ञान के भार

सहित, गहरी डुवकी प्रकृति-समुद्र में ले रहे होंगे। यह गहरी डुवकी ही, आत्मा के निज वृत्त में, ज्ञान और तपोवल सहित उठना है। तपोवल और ज्ञान-तेज वासनाओं को दग्ध कर, उन वासनाओं को विलीयमान वना कर, आपको वासनाओं से छुड़ा कर—निराधार बनाने में सहायक हैं। वासनाओं की लाल रंग की ज्वालाओं के अन्तः तल में, सुख प्राप्ति की अन्तः भावना रूप नील तपोमय पुंज है। इस स्थिति से आगे—अर्थात् वासनाओं के केन्द्रीभूत—सुख की अन्तः भावना (तपः) के क्षेत्र से, आत्मिकक्षेत्र में अर्थात्—'सत्यम्' में आपकी गति होगी।

आत्मज्ञान भार से आप अन्तः सुख भावना 'तपः' के वाह्य-प्रकृति उन्मुख-द्वार को छोड़ कर अन्तः सुख भावना के आत्मोन्मुख द्वार पर खड़े अपने को पायेंगे। अब यहाँ से आत्मज्ञान मात्र आप स्वयं निराधार होकर—दो ओर गति कर सकते हैं। या तो प्रकृति उन्मुख वासनाओं की अग्नि तक वापिस लौट कर जनः लोक में वासनाओं के अनुगत अपनी सृष्टि रच, फिर शरीर में आ जांय। या ईश्वरोन्मुख हो जाइये। निराधार तपः क्षेत्र से, आपको रीढ़ की हड्डी के सुषुम्णाद्वार से, आत्म जगत् में ऊर्ध्वगति करते हुए सत्य लोक तक यदि गति करना है—तो ईश्वरोन्मुख जाइये। प्रकृति में आत्मतल पर गहरी नीची डुवकी लगाने के वाद आत्म-जगत में ऊर्ध्वगति होगी।

मूलाधार की अग्नि को सुषुम्णा में न जाने देना, नहीं तो

वासनायें, विद्युत् तेज के साथ सुषुम्णा के चक्रों में सिद्धियों का क्षेत्र, वासनाओं की पूर्ति हेतु, प्रबल वेग से प्रज्वलित कर देंगी; और आप दीर्घकाल के लिये, चमत्कारपूर्ण प्रकृति के क्षेत्र में वासनाओं की पूर्ति करते, नई वासनायें उत्पन्न करते हुए—फंसे रहेंगे। यही योग भ्रष्ट होने का मार्ग है। अतः वासना की एक चिनगारी भी सुषुम्णा चक्रों की मैगज़ीन में न लगे। प्रथम इसलिये मूलाधार में ही—गहनतम अन्तःसुख की भावना तल पर, निराधार बैठने का अभ्यास करो यही आपकी 'तपः' स्वरूप ब्रह्म की उपासना है। तपःलोक में दृढ़ होकर, वासना रहित होने से कमाये हुए बल के साथ शुद्ध होकर, आत्मबल से आत्म जगत् में उठने की प्रेरणा ही आपको सुषुम्णा द्वार में ऊर्ध्वगति करावे। यही मूलाधारस्थ—आत्मज्ञान सहित—तपेश्वर ब्रह्मशक्ति 'तपः' अर्थात् उमा * (उ+म+अ) की उपासना द्वारा छठा प्राणायाम समाप्त हुआ। 'तपः' की उपासना, आत्मा का निराधार रहे आने का—वासनाओं के क्षेत्र में खिंचने से रुकने का, तथा अन्तःसुख भावना के तल पर जमे रहने का, अथक प्रयत्न है।

—:o:—

ओ३म् सत्यम् (ओ३म् सत्यम् पुनातु पुनः शिरसि)

स्थायी सुख के हेतु, वासनाओं के क्षेत्र में वापिस न जाओ—

* केन उपनि० खण्ड ३ मन्त्र १२।

वासना रहित बने रहो, और ईश्वरीय एक रस-ज्ञान आनन्द की गहरी श्वास आने दो। इसके पूर्व छठे प्राणायाम के पूर्ण होते समय, वासना रूपी दुर्गन्ध वायु का प्रश्वास बाहर जा चुका हो। तुम्हारे तपस्थल में अन्तःसुख भावना प्रकृति उन्मुख थी—ज्ञानघन और आनन्दमय अवस्था इसी तपस्थल—अर्थात् अन्तःसुख भावना का ईश्वरोन्मुख द्वार है। इस द्वार पर धनाधन्न आनन्दमय अमृत, ईश्वरीय स्नेह जल का, जी भर कर पान करो। वास्तव में ईश्वर का तप ज्ञानमय है। तुम्हें जो प्रकृति उन्मुख होने पर 'तपः' प्रतीत हुआ था वही आत्मोन्मुख होने पर ज्ञानघन आनन्दमय* प्रतीत होगा—इन दोनों अर्थात् तपः (क्रिया) और ज्ञान में व्याप्त अति सूक्ष्म—इन तप और ज्ञान की तलातल तह में, सत्य ब्रह्म का समुन्नत विस्तार है। वही अनन्त, अपरिमेय, अचिन्त्य—न ज्ञानघन†—न अज्ञ, केवल आत्म प्रत्यय सार, शिव, शान्त, अद्वैत सत्य ब्रह्म है।

अतः तपस्थल के ईश्वरोन्मुख द्वार में, ज्ञानघन की अनन्त श्वासें जी भर कर लेने के उपरान्त—फिर उसी तपस्थल में निराधार, अन्तः सुख भावना में ईश्वरीय दर्शन हेतु प्यासे, आप उस ईश्वर की दया से, उसके सत्यामृत स्नेह-जल को पान करते हुए, जहाँ न सुख है न दुःख है उस ब्रह्म तक अर्थात् मुक्ति के हेतु, सुषुम्णा में ऊर्ध्वगति करो। मूलाधारस्थ नील

---

* माँडूक्य उपनि० मन्त्र ५। † माँडूक्य उपनि० मन्त्र ७।

आकाश में निराधार, तुम व्याकुल हो। गहरी से गहरी गहराई में तुम रहे आये हो। वहाँ निराधार रह कर निज एकमात्र ब्रह्म-आधार की भक्ति में—स्नेह जल द्वारा—जो तुम्हारे तपःस्थल के आत्मोन्मुख द्वार पर समीप ही वह रहा है—उस स्नेह जल द्वारा तुम स्रावित हुए हो। यह कह चुके हैं कि तपोमय और ज्ञानानन्दमय दोनों स्थलों के अन्तः-अन्तः तल में, एक सत्यमात्र, अनिर्वचनीय आधार है। ब्रह्माण्ड में—मूलाधार से, सुषुम्णा द्वार से जाकर, उसका प्रकाश (सत्यं) फैलने दो। तुममें यही प्रकाश (सत्यब्रह्म) व्याप्त है। सुषुम्णा द्वार से सत्यब्रह्म में होकर तुम्हीं प्रकाश के साथ रहे आये हो। रह रह कर आनन्दमय स्नेह जल पूर्ण इस दिव्य मनुष्य जन्म की श्वासें लो। स्नेहजल और तप तुम्हारे मनुष्य जन्म को सफल करने हेतु बहे हैं। स्नेहजल ने तुम्हें अन्तःसुख की भावना का संस्कार दिया था यह स्नेहजल उस सत्य प्रकाश का एक मधुरस है जिसका 'तपः' पुष्प है। इस सत्य में अनन्तता है और अमरत्व है। यदि सत्य प्रकाश के सहित तुम सुषुम्णा में उठो तो तभी उठना जब वासनायें तपोभूमि (मूलाधार) में तुम क्षीण कर चुके हो, नहीं तो, यदि अधिक वासनाभार के साथ सुषुम्णाद्वार में उठोगे तो ब्रह्माण्ड तक उन्नति न कर सकोगे, योगभ्रष्ट होगे, संसारचक्र में ही गिर पड़ोगे। उस समय फिर तुम्हें अघमर्षण आदि मन्त्रों से लेकर, सन्ध्याकाल में, गायत्री तक जाने का जो सन्ध्यामन्त्र आगे उपदेश करेंगे वह उपदेश, वासनाओं के क्षीण करने में

तुम्हारा सहायक होगा। फिर तुम इस सुषुम्णा मार्ग से सत्य ब्रह्म में चल कर ब्रह्माण्ड की (सहस्रार) सहस्र कलियों को सत्य प्रकाश के साथ भर देना। तुम्हारा ब्रह्माण्ड जो क्षुद्र वासनाओं की बुद्धि (दिमाग़) का बना है वह ब्रह्माण्ड उस अनन्त सत्य सहित, तुमको अनन्त सत्यलोक में, विस्तृत होने से रोक नहीं सकता, वह फट जायगा। तुम स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, मुक्त, सत्य ही सत्यलोक में आ गये हो, तुम्हें नमस्कार॥

पर हाँ, तुम अति सूक्ष्म किंचित् परोपकार की वासनायें तो कुछ न कुछ लिये ही हो—तुम्हारा जितना भर तप, निराधार रह कर मूलाधार क्षेत्र में हुआ होगा, वह वासनाओं को अत्यन्त दग्ध करके भी, वासनाओं की—चाहे परोपकार भावनाओं की—सत्तामात्र को, तुममें से विनष्ट न कर सका होगा। अतः एक सृष्टि-प्रलय उपरान्त, फिर परोपकार भावना से ही बँधे संसार-क्षेत्र में तुम अवतरित होगे। तब तुम्हें, सन्ध्या (मेल) हेतु—"शन्नोदेवीरभिष्टय"—सुख प्राप्ति की कामना—से आगे, सन्ध्या-मन्त्रों का अर्थात् अघमर्षणादि मन्त्रों से लेकर गायत्री पर्यन्त—अर्थ भावना सहित उपदेश फिर प्राप्त होगा। ताकि एक पूर्ण दृष्टि इस सृष्टि पर तुम फ़िर डाल सको, और पुनः उस सत्य ब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग में तुम पर अभीष्ट सुख की ही वर्षा होती चले। अन्त में फिर तुम सुषुम्णा द्वार से शीघ्र ही ब्रह्माण्ड को फोड़ मुक्त हो जाना। इति 'सत्य' की उपासना सहित यह सप्तम और अन्तिम प्राणायाम् समाप्त हुआ॥

साधारण उपासकों के लिये वक्तव्य

यदि प्राणायाम करते समय उपरोक्त गहन विधि "भूः, भुवः, आदि की उपासना की, सुलभ न हो तो (१)—ओ३म् सहित 'भूः' आदि व्याहृतियों की शव्द मात्र, पुनः अर्थमात्र, पुनः भावमात्र उपासना किसी एक ही केन्द्र में करनी चाहिये। (२) दोनों भ्रकुटी और नासिका की ज़ड़—इन तीनों के केन्द्र में माथे से लगभग तीन अंगुल भीतर शिर में—तृतीय नेत्र की कल्पना करो। यह नेत्र प्रकाशहीन देखो। वहीं व्याहृतियों के जप अर्थ तथा भाव सहित—श्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा प्राणायाम् होने दो (३) अथवा अन्य किसी केन्द्र (भूमि) में यथा नासिकाग्र, कण्ठकूप आदि में मन को ठहरा कर प्राणायाम और उपासना करो। (४) वा श्वास-प्रश्वास की वायु की गति के साथ २ मन को—दृष्टा की हैसियत से—आने जाने दो। अथवा (५) व्याहृतियों के अर्थ स्वरूप—"भूः"=प्राणबल, "भुवः"=मन और शरीर की शुद्धि, "स्वः"=सुखरूप, "महः"=महान् विश्व में व्याप्त ब्रह्म, "जनः"=वनस्पति, विश्व, और प्राणिमात्र की उत्पत्ति करने वाली ईश्वरीय जनन शक्ति, 'तपः'=तेजोमय व्याप्त—तपेश्वर—ब्रह्म की प्रकृतिरूपिणी आदि शक्ति, और 'सत्यम्'=सत्यस्वरूप सदा एक रस ब्रह्म—इन सातों रूप में ईश्वर का ध्यान करके निज को तद्रूप—तद्गुणवान् बनने देने का अवसर देते रहो। साराँश यह कि प्राणायाम द्वारा—एक केन्द्र में

अथवा अन्य केन्द्रों में मन को एकाग्र करने के हेतु—किसी एक प्रकार से दृढ़ अभ्यास करना चाहिये। तब निज ज्ञानानुकूल आगे बढ़ना होता है। जहाँ २ किसी बात से मना किया है उसको न करना चाहिये विशेष कर शारीरिक प्रयत्न सब जगह वर्जित है। मन का वशीकरण—प्रयत्न शैथिल्य द्वारा—ध्येय है। इति।

प्राणायाम प्रकरण समाप्त।

—:o:—

अधमर्षण मन्त्रों में आये शब्दों के अर्थों पर एक दृष्टि

"ऋतम्" (सत्य वेद ज्ञान)

१. गति और प्राप्ति अर्थ वाले 'ऋ' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके 'ऋत' शब्द सिद्ध होता है। उणादि कोष भाषा में स्वा० दयानन्द जी लिखते हैं कि 'ऋच्छति'×—आत्मानं प्राप्नोति इति ऋतम्—यथार्थं वा' अर्थात् आत्मा को जो प्राप्त हो, वह 'ऋतं' है। यह यथार्थ सत्य वेद ज्ञान है।

ऋतम् (परिचरण=चारों ओर केन्द्र के गति, करनेवाला)

२. प्राप्ति,* गति अर्थक 'ऋ' धातु से 'ऋच्छ'† आदेश होकर लट लकार (वर्तमान काल में) 'ऋच्छति' शब्द प्रयुक्त

× उ० कोष पाद ३–८६। * धातुपाठ। † अष्टाध्यायी ७–३–७८।

होता है। यह 'ऋच्छति' शब्द निघंटु में गति* और परिचरण‡ कर्मों में गिनाया है। परिचरण कहते हैं किसी केन्द्र के चारों ओर गति करना। यह गति 'आश्रय पारायण और आधार' भावार्थ में होती है। अतः किसी केन्द्रीय (आकर्षण जैसे) आधार से केन्द्र के चारों ओर गति करने वाला—आश्रय पारायण पदार्थ—'ऋतं' है दृष्टान्त के हेतु सूर्य के चारों ओर गति करने वाली पृथ्वी। अणु के अङ्गभाग में 'केन्द्रीय विद्युत भारयुत' Proton 'तम' कण के चारों ओर गतिशील विद्युत् परमाणु Electron 'रजकण' गति करता है। यह रजोगुणयुत विद्युत् परमाणु (Electron) ही ऋतं है।

ऋतं = जल

३. जीवों में अन्तः सुखभावना ही ऋतं‡ है जो 'आनन्द' वा सुख की प्राप्ति की ओर गति करती है। 'यस्य ज्ञानमयं तपः' 'तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहोऽऽर्द्रमजायत' गोपथ ब्राह्मण के अनुसार—ऋतं ही वह स्नेह रूप जल है जो सृष्टि-निर्माण के समय ज्ञाममय तप करने वाले ब्रह्म के संतप्त ललाट से उत्पन्न होता है। जहाँ 'तपधारा' प्रकृति को क्रिया में नियुक्त करती है तो स्नेहरूप जलधारा ही जीवों में उनके कल्याण हेतु वह रही है। निघंटु में 'ऋतं' को 'जल'* के अर्थों

---

* निघंटु अ० २—१४। ‡ निघंटु अ० ३—५।

‡ ऋ (गति—प्रापणयोः) धातुपाठ। * निघंटु ६—१२, निरुक्त नैघंटुक काँड २—७—२५।

में गिनाया भी गया है। इसी स्नेहरूपी (जल) धारा का जीव में प्रकृति उन्मुख रूप 'अन्तः सुखभावना' है जो सुख प्राप्ति हेतु मन में ¶समस्त वासनाओं को उत्पन्न करती है।

ऋतं (मन-बुद्धि)

४. जै० उ० ३–३६–५ में स्पष्ट लिखा है 'मनोवा ऋतम्' मन ही ऋतम् है। निरुक्त में 'ऋत' शब्द की व्याख्या में यास्क मुनि जल, प्रज्ञा, धीति तथा बोध कराने वाली (बुद्धि) तथा मनुष्य की 'ज्योतिषः'× का उल्लेख करते हैं जिससे स्पष्ट 'ऋतं' शब्द मन, व बुद्धि के अर्थों में भी घटता है। 'ज्योतिषाम् ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' तथा 'यत्प्रज्ञानम् उतचेतो धृतिश्च यज्ज्योतिः अन्तः अमृतं प्रजासु तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' इत्यादि वेदमन्त्रों से स्पष्ट है कि वह 'ज्योतिषः' शब्द मन के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। 'ऋच्छति'* वा आत्मानम् प्राप्नोति' अर्थात् जो आत्मा को प्राप्त हो वह मन ही है। तथा च ऋच्छति के अर्थ*–गति, इन्द्रिय प्रलय, व मूर्तिभाव में भी पाये जाने से और क्योंकि इन्द्रिय विलीन इसी मन में होती है, अतः मन ही ऋच्छति कर्मा ऋतं है।

¶ ऋतेन एव एनं स्वर्गं लोकं गमयन्ति तां० १८–२–६। × निरुक्त दै० अ० १०–४–३६। * उ० को० ३–८६। * धातुपाठ व्रश्चादय परस्मै भाषा पृ० २३–१२।

५. भोक्ता प्राण अग्नि* ही ऋतं है जो अन्न=रयि की प्राप्ति हेतु प्राणी को अन्न की ओर गति कराता है। प्राण ही जीव-आत्मा को प्राप्त होता है—यह ही जल का सूक्ष्मभाग 'ऋतं' प्राण है।‡

६. रजोगुण ही ऋतं है क्योंकि प्रकृति के तीन गुणों में गति सम्बन्धी चलनशील रजोगुण ही है।

ऋतं-शुक्लवर्ण, "प्रकाश किरण"

७. यदि गति और प्राप्ति अर्थ में ऋतं को शुक्ल किरण अर्थात् प्रकाश किरण† कहें तो भी उचित है क्योंकि प्रकाश किरण ही सब पदार्थों की ओर से गति करके उनकी यथावत् प्राप्ति आँखों को कराती है। निरुक्त दै० ७-७ में ऋतं के सदन अर्थात् किरणों के स्थान अन्तरिक्ष का उल्लेख है।

ऋतं (सृष्टि)

८. गति और प्राप्ति का स्थान यह सृष्टि भी 'ऋतं' है।

ऋतं (वीर्य)

९. ऋतं वीर्य को भी कहते हैं जो गर्भाशयस्थ रज की ओर आकर्षित हो गति करता है। निरुक्त ३-१-४ (ऋतस्य दीधितिं सपर्यन)।

---

* अग्निः वा ऋतं तै० १-५-५-१।

‡ छाँ० ६-६-३। † छाँ० १-६-५।

अतः ऋतं के अर्थ क्रमशः प्रकरणानुसार (१) सृष्टि, (२) वेदज्ञान, (३) मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार वा विचारधारा, (४) प्राण, (५) स्नेहरूप जल और अन्तः सुखभावना, (६) रजोगुण, (७) गतिशील (Electron) ऋणात्मक चिन्ह द्वारा कथित (Negative) विद्युत् परमाणु, (८) शुक्लवर्ण प्रकाशकिरण, (९) वीर्य।

—:o:—

'सत्यम्' शब्द के अर्थ

१. सत्य=प्रलय

शाकटायन* मुनि के आधार पर 'सत्य' उसको कहेंगे जो सत् का आयक (य) हो अर्थात् सत् विद्यमान पदार्थ (सृष्टि) को जो प्राप्त करावे। उपनिषदों में कहा है¶ कि जो यह सृष्टि है वह पूर्व विद्यमान इस रूप में न थी—अविद्यमान अवस्था से विद्यमान अवस्था में इसका आना ही मानो असत् से सत्‡ का उत्पन्न होना है। अतः सृष्टि की विपरीत अवस्था को सत्य—प्रलय कहेंगे जिसमें से यह चराचर सृष्टि गति करती हुई उदय होती है। दूसरे प्रकार से भी ×—'सत्-प्रभवं' अर्थात् सत्—विद्यमान पदार्थ को उत्पन्न करने वाली—अर्थात्

* सत्+आयकं=सत्+य=सत्य इति निरुक्ते पूर्वपक्ष खण्डने भूमिकायाम् अ० १–११। ¶छां० उप० प्र० ६ खण्ड १ प्र०१। ‡तै० उप० ब्र० व० ७। × निरुक्त अध्याय ३–३–१०।

सृष्टि को उत्पन्न करने वाली प्रलय को ही सत्यम् कहेंगे (निरुक्त अ० ३ पाद ३—१०)

२. 'सत्यं' प्रकृति वा ब्रह्मशक्ति

स+त्+य इन तीनों अक्षरों में 'स' और 'य' जो आदि और अन्त हैं वे (स्वर सहित व्यंजन होने से) सत्य ही हैं परन्तु 'त्' स्वर रहित होने से मध्य में असत्य है* तदेवं यह प्रकृति आरम्भ में सत् और अजा होने से सत्य है इसका अन्त भी सत्य है क्योंकि परमाणु नाशवान् इस सृष्टि में नहीं देखे जाते यही विज्ञान का सिद्धान्त है ‖। परन्तु मध्यवर्ती अवस्था में इस सृष्टि में सब पदार्थ बनते बिगड़ते रहते हैं। अतः प्रकृति ही सत्य है। इस प्रकृति व ब्रह्मशक्ति का ही निरन्तर उपदेश 'ऋतं' वेदवाणी से हमें प्राप्त होता है।

३. सत्यं (प्राप्त ध्येय वा भोग)

'सत इति प्राप्तस्य' * प्राप्त विषय का वाचक सत्य कहलाता है। मन बुद्धि आदि तथा विचारधारा जिस ध्येय वस्तु व विषय की ओर गति करते हैं उस प्राप्त ध्येय विषय व वस्तु को 'सत्यं' ही कहा जाएगा।

---

* बृहदा० ५—५—१—श० १४—८—६—२।

‖ Matter is indestructible.

* निरुक्त नैघंटुक ३—४—२०।

४. सत्यं (अन्न व रयि)

भोक्ता प्राण, अन्न व रयि रूप ऐश्वर्य सुख को ही पाता है अतः उपरोक्त हेतु से अन्न वा रयि ही सत्य है।

५. सत्यं (ब्रह्म,† मुक्ति तथा प्राकृतिक-आनन्द भोग)

जीवों में अन्तः सुख भावना को हमने ऋतं कहा है तथाच तद् विषयक ब्रह्मानन्द, मुक्ति आनन्द वा प्राकृतिक भोग ही उपरोक्त हेतु से, जीवों द्वारा प्राप्त विषय होने से, सत्य हैं।

६. सत्यं (प्रकृति का तमोगुण)

गति शील रजोगुण को आश्रय परायण ऋतं नाम से हम कह चुके हैं। यह रजोगुण तमोगुण से ही आकृष्ट होकर गति करता है अतः आधार रूप तमोगुण (proton) ही (स्थिर होने से) सत्य है। स्थिर पदार्थों में केन्द्रस्थ आकर्षण शक्ति, आकाश में व्याप्त होकर विस्तृत होती है, इस हेतु से—(अर्थात् सत्सु तायसे)* अणुओं में विस्तृत होने से यह केन्द्रस्थ आधार रूप 'तमोगुण' ही सत्यं है।

७. सत्यं (धन चिन्ह "+" द्वारा कथित केन्द्रस्थ विद्युत् परमाणु)

केन्द्रस्थ भारमय विद्युत् परमाणु (proton) ही आधार

---

† सत्यं ब्रह्म श० १४-८-५-१।

* निरुक्त नैघंटुक ३-३-१०।

होता है अतः यह 'सत्यं' है इसी के चारों ओर गतिशील विद्युत् परमाणु परिचरण करता हुआ हमने ऋतं कहा है। यही काष्ठ वा ईंधन वा अन्न वा तमोगुण है यही अणुभाग में भार रूप परमाणु है। यही (सतः संसृतं भवति† वा सत्सु तायसे) इन निरुक्त के प्रमाणों से अन्य अपने जैसे विद्युत् परमाणुओं को निज प्रभाव‡ द्वारा अन्य सत्-विद्यमान पदार्थों में उत्पन्न करता है और निज जैसे धन चिन्हित + विद्युत् परमाणुओं की संसृति* करता है।

८. सत्यं (कृष्ण वर्ण वाली किरण)

श्वेत किरण (सप्त रंग की किरणों का सामूहिक परिणाम है) इनसे परे 'परं नील कृष्ण' Ultra Violet किरणें हैं। वे दूरस्थ प्रदेशों से आती हुई आकाश में विस्तृत होती हैं और बादल तथा वायु मंडल में निज संतान रूप विद्युत् परमाणुओं की संसृति करती हैं ये अतिसूक्ष्म किरणें सूर्य से प्राप्त होती हैं। अतः ये किरणें उपरोक्त "सत्सु तायसे—सत इति प्राप्तस्य—तथा सतः संसृतं भवति" प्रमाणों से "सत्यं" हैं। प्रकाश किरणों की तरह सात रंगों में बँटकर व बिखर कर यह कृष्ण किरण बिना रासायनिक वा विद्युत् परिणाम संसृत किये नष्ट नहीं होती।

† निरुक्त नैघं० ३–४–२०।

‡ निरुक्त नैघं० ३–३–१०।

* सतः संसृतं भवति, नि० नै० ३–४–२०।

अतः यह परंकृष्ण† Ultra Violet किरणें "सत्यं" हैं।

९ सत्यं (रज) वा जीव

जहाँ ऋतं को हमने वीर्य कहा है वहाँ स्त्री रज को सत्य कहेंगे। दोनों वीर्य और रज 'जल मय' हैं इधर ऋतं और सत्यं दोनों ही निघंटु में जल के नामों* में पठित हैं। परन्तु वीर्य के परमाणु गति शील होने से ऋतं कहे गये जैसा निरुक्त ३-१-४ में कहा है। 'रज' कण भोग्य कण होने से "सत्यं" कहे गये। यह विज्ञान का सिद्धान्त है कि वीर्य परमाणु रज कणों का भक्षण (अन्न भोग) करते हैं। यदि वीर्य वा रज दोनों को ही पुरुष और स्त्री के वीर्य मात्र नाम से कहा जाय तो "सत्सु तायसे सतः संस्तृतं भवति" इन प्रमाणों से जीव* ही इन विद्यमान (सत्सु) वीर्य रज में संतान रूपेण पालित होता है—जीव ही संस्तृत‡ होता अर्थात् जन्म लेता है अतः जीव ही "सत्यं" है।

अतः "ऋतं" शब्द के अर्थों का अनुसरण करते हुए 'सत्य' शब्द के उसी क्रमानुसार यह अर्थ होंगे।

(१) प्रलय, (२) प्रकृति वा ब्रह्मशक्ति, (३) प्राप्त ध्येय वा भोग, (४) अन्न वा रयि, (५) ब्रह्मानन्द, मुक्ति, वा प्राकृतिक सुख, धन, ऐश्वर्य, (६) तमोगुण, (७) केन्द्रस्थ भारी आधार रूप proton

---

† छां० १-६-५। * निघंटु १-१२।

* सत्सु तायसे (तायृ-संतान पालनयोः) निरुक्त नैघंटुक ३-३-१०।

‡ निरुक्त नैघंटुक ३-४-२० (सतः संस्तृतं भवति)।

(धन चिन्हित '+' विद्युत् परमाणु); (८) परंकृष्ण-विद्युत् व रासायनिक क्रिया उत्पादक किरणें जो प्रकाश किरणों से अति सूक्ष्म हैं; (९) जीव अथवा 'रज' मात्र ही—यह सब सत्यं शब्द वाच्य हैं। पृथ्वी भी तथा आदित्य भी तथा और भी अनेक पदार्थ सत्य शब्द वाच्य प्रकरण और भाव के अनुसार* कहे जाते हैं जिन्हें यथास्थान यथावत् जानना चाहिये।

'तपस:' शब्द के अर्थ

'तपति ताप हेतु भवति इति तपस':, चन्द्रमा व। † अर्थात् जो स्वयं तपता है व ताप हेतु होता है उसे तपसः कहते हैं। 'तप' शब्द धातुपाठ में दुःख, दाह, और ऐश्वर्य अर्थ में पठित है। अतः तपसः उसे कहेंगे जो दुःख, दाह, व ऐश्वर्य पाता है अथवा उसे भी तपसः कहेंगे जो दुःख, दाह, व ऐश्वर्य की प्राप्ति में हेतु होता है।

तपसः (ईश्वर, जीव, प्रकृति)

१. ईश्वर स्वयं ज्ञानमय यज्ञ तपता है,‡ जीव दुःख, दाह, व ऐश्वर्य पाता है। प्रकृति भी जीवों की दुःख, दाह, व ऐश्वर्य प्राप्ति में हेतु है। अतः जहाँ 'ऋतं और सत्यं' सृष्टि और प्रलय

---

* ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। इति तै० उ० १-९।

† उ० को ३—११७ व्याख्या स्वा० द०। ‡ तै० उप० ब्र० व० ६, भृ० व० २।

रूप (मिथुन) जोड़े को कहते हैं वहाँ ईश्वर, जीव, प्रकृति ही 'तपसः' हैं।

२. इस चराचर विश्व में 'जीव और ब्रह्म' ही वेदज्ञान को प्राप्त करने और प्रकट करने वाले हैं, अतः, ज्ञानमय तप को तपने वाले वा ज्ञानरूप ताप में हेतु यही 'ब्रह्म और जीव' संज्ञाधारी पुरुष 'तपसः' हैं।

तपसः (मनोमय तेज व बुद्धिशक्ति)

३. निघंटु (१–१७) में 'तपसः' को 'ज्वलतः' नामों में गिनाया है अतः मन, बुद्धि आदि में जो अभिज्वलित तेज (ज्योति) है वह मनोमय तेज ही 'तपसः' है। 'यज्ज्योतिः अन्तः अमृतं प्रजासु तत् मे मनः'........ वेदमन्त्र में 'मन' को जिसे चन्द्रमा भी कहते हैं ज्योति नाम से कहा है इधर स्वा० दयानन्द उणादि कोष व्याख्या में जैसा ऊपर कह आये हैं तपसः को चन्द्र नाम* से लिखते हैं। अतः ज्ञानाग्नि व मनोमय तेज ही तपसः हैं।

तपसः (कर्म व जीवों के संस्कार)

४. कर्म व जीवों के पूर्वजन्मों के संस्कार ही सुख, दुःख, रूप, भोगों व ऐश्वर्य आदि कर्मफलों का पाक* करते हैं (तपन्ति—पाचयन्ति) तथाच यही सुख, दुःख, ऐश्वर्य रूप ताप में हेतु हैं अतः कर्म व संस्कार ही तपसः हैं।

---

* उ० को० ३–११७। * निरुक्त नैघं० २–६–२२।

तपसः (मुक्ति, भोक्ता जीव, तथा अन्तःकरण)

५. भक्ति रस तथा अन्तः सुख-भावना रूप जल को जहां 'ऋतं' और मुक्ति तथा प्राकृतिक भोगों को 'सत्यं' कहा है, वहां उपरोक्त प्रमाण (१) व (३) से जीव और अन्तःकरण ही 'तपसः' कहे जायेंगे क्योंकि यह मुक्ति, आनन्द, वा भोग क्रमशः जीव और अन्तःकरण को ही प्राप्त होते हैं।

तपसः (प्रकृति में सत्व गुण)

६. जहाँ ऋतं रजोगुण है, सत्यं तमोगुण है, वहां प्रकृतिस्थ सत्व गुण ही, ज्योति व प्रकाशमय होने से, तपसः कहा जायगा, क्योंकि 'तपसः' को निघंटु (१-१७) में 'ज्वलतः नाम' में गिनाया है।

७. अणु में दो प्रकार के विद्युत् परमाणु (एक स्थिर + चिन्ह वाला सत्यं, दूसरा गतिशील '—' चिन्ह वाला ऋतं) वताये गये हैं। उनमें अन्तर्हित तथा प्रकट होने वाला, विद्युत् क्षेत्र (आकाश) में व्याप्त जो विद्युत् तेज है, वही तपसः* है। इसी प्रकार आणविक शक्ति पुंज (atomic energy), चुम्बक शक्ति, तथा भौतिक अग्नि के विषय में जानना चाहिये। विशेषतः विद्युत् धारा, चुम्बक धारा, व आग्नेय किरणें 'ऋतं' हैं—तथाच भुक्त×

* तेजोऽसि तपसि श्रितम्। समुद्रस्य (अन्तरिक्षस्य) प्रतिष्ठा तै० ३-११-१-३।

× सीसा व जस्त आदि भुक्त पदार्थों के तेज़ाब में गलने से भी विद्युत पैदा होती है।

रसायन पदार्थ, व केन्द्रस्थ, व परिधि में स्थित* चुम्बक व काष्ठादि पदार्थ, जो इन धाराओं व किरणों को उदय करते हैं, तथा तार व आकाश आदि, जिनमें ये किरणें (सत्सु तायसे) चलती हैं, सत्यं हैं और यह तेज ही 'तपसः' है।

तपसः (रोहित वर्ण)

८. यह जो रोहित† वर्ण, तेज रूप भासमान होता है अथवा (Infra red) मन्द ताप युत जो ऊष्ण पदार्थ हैं, वे रोहित (लाल रंग) जैसे तेज से युत हैं; वे ही ताप (दाह) हेतु होने से 'तपसः' हैं।

तपसः (प्राण-रुद्र)

९. हमने वीर्य मात्र को 'ऋतं' तथा जीव को, जो जन्म लेता है 'सत्यं' सिद्ध किया है। यहाँ इस जीव को दुःख दाह में हेतु* यही प्राण है जो जन्म लेते समय व मृत्यु समय, जीव के साथ आता व जाता है। इस प्राण को रुद्र इस कारण कहते हैं कि वह जीव को शरीर से मृत्यु काल में पृथक् करके, सम्बन्धियों को ताप-दुःख देने में हेतु होता है, यही प्राण 'तपसः' है।

—:o:—

* चुम्बक क्षेत्र में तार का गुच्छक (armature) इंजिन द्वारा घुमाने से विद्युत् धारा प्रवाहित होती है। † छांदोग्य प्र० ६ खं ४ प्र० १-४।
* उ० को० ३-११७ ।

'ऋतं, सत्यं, तपसः' शब्दों के अर्थों का समीकरण

१. ऋतं और सत्यं ये दोनों मिथुन× (जोड़े) हैं, जिनसे यह जगत् उत्पन्न होता है। अतः ऋतं और सत्यं भिन्न २ अर्थों का प्रतिपादन करते हुए भिन्न २ प्रकरण और क्रम से सृष्टि की रचना में भाग लेते हैं।

२. ऋतं, सत्यं और तपसः ये तीन पदार्थ हैं जिनके भिन्न २ रूप से संहित होने से त्रिवृत्तीकरण* का क्रम चलता है। यह इन तीनों का आपस में संघात, विशेष २ प्रभाव को प्रकट करता हुआ सृष्टि की स्थिति व प्रलय को सम्भव करता है।

अतः इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध एकत्र निम्न मान-चित्र द्वारा देखिये।

'ऋतं, सत्यं, तपसः' का त्रिवृत्ती-करण

ऋतं	सत्यं	तपसः
१. जीव (सत्चित्)	प्रकृति (सत्)	ब्रह्म (सत् चित् आनन्द)
२. सृष्टि	प्रलय	ज्ञानमय तप का तपने वाला अभिइद्ध (अभि-ज्वलित) ब्रह्म तथा ईश्वर, जीव और प्रकृति

× छां० २-१३-२, बृ० १-४-४। *छां० प्र० ६ खं० ३ प्र० ३-४।

३. जीव	वेदज्ञान	सर्वज्ञ
४. वेदज्ञान	ईश्वर-जीव, प्रकृति (ब्रह्मशक्ति)	पुरुष (जीव, ब्रह्म)
५. मनबुद्धि, चित्त-अहंकार (विचार-धारा)	प्राप्तव्य ध्येय वा भोग	ज्ञानाग्नि, मनोमय तेज
६. प्राण	रयि व अन्न	कर्म तथा जीवों के पूर्व संस्कार
७. गातुः (पृथ्वी)*	सूर्य†	चन्द्र‡
८. भक्ति, (स्नेहजल) अन्तःसुख-भावना	ब्रह्मानन्द, मुक्ति प्राकृत भोग	ईश्वरोन्मुख जीव और भोक्ता अन्तःकरण
९. रजोगुण	तमोगुण	सत्वगुण
१०. गतिशील विद्युत परमाणु electron (–) चिन्ह वाला	स्थिर+चिन्ह वाला विद्युत् परमाणु (proton)	अन्तर्हित विद्युत् तेज, Xray, wirelesswaves, आणविक तेज, भौतिक अग्नि।
११. शुक्ल वर्ण Spectrum	परंकृष्ण किरण Ultra Violet	रोहित वर्ण (Infra Red)
१२. वीर्य-रज	जीव (वसु)	(रुद्र) प्राण
१३. जल	अन्न	तेज

* उ० को १–७३ गच्छति इति गातुः–ऋच्छति (गच्छति) इति ऋतं।

† तै० २–१–११–१, श० ६–७–१–२। ‡ उ० को ३–११७।

'रात्रि और समुद्र' (प्रकृति और अन्तरिक्ष)

१. 'रात्रि' शब्द 'रा' धातु से 'त्रिप्' प्रत्यय होकर गति और दान अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'राति-सुखं ददाति इति रात्रिः'* क्योंकि रात विश्राम देती है इस हेतु यह भी रात्रि कहाती है। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति† ईश्वरीय तप से सृष्टि रचना में प्रवृत्त हो (गति करती) मानो जीवों को सुख, दुःख ऐश्वर्य आदि प्राकृतिक भोग‡ सभी कुछ देती है, अतः यही रात्रि है।

'सम् उनत्ति इति समुद्रः'× जो सम्यक् गीला करता है, वह समुद्र है, वस्त्र को जल व्याप्त होकर गीला करता है। इसी प्रकार 'अन्तरिक्ष' महत् आकाश भी सब में व्याप्त है; यही 'अर्णवः' अर्ण¶ (आने-जाने) का अर्थात सब गतियों का स्थान है, अतः 'समुद्रः अर्णवः' ही महत् आकाश व 'अन्तरिक्ष' है। निघंटु १-३ में 'समुद्र' शब्द 'अन्तरिक्ष' नामों में पठित है। निरुक्त २-३ में, अनेक रूप से 'समुद्र' शब्द की व्याख्या❀ करते हुए, समुद्र शब्द

---

* उ० को० ४-६७ † रात्रिः वै व्युष्टिः श० १३-२-१-६, अहः व्युष्टिः तै० ३-८-१६-४, व्युष्टिः वै दिवा तां० ८-१-१३, बाहुलकात् दीव्यति इतिदिवा उ० को ४—१७५। ‡ रात्रिः एव श्रीः श्रियांहि एतदरात्र्यां सर्वाणि भूतानि सम्वसन्ति, श० १०-२-६-१६, श्रयति श्रीयते वा सा श्रीः ईश्वर रचना वा, उ० को २-५७। × निरुक्त नैघं० २-३-११। ¶ उ० को० ४-१६७।

सर्वाणि भूतानि सम् उद्रवन्ति, जै० उ० १-२५-४; समुद्र वायु, यजु० ३८-७; य एव अयं पवते (वायु) एतद् एव अन्तरिक्षम् जै० उ० १-२०-२।

का अर्थ, प्रकरणानुसार, अन्तरिक्ष व सागर किया है। यहाँ अधमर्षण मंत्रों में रात्रि की उत्पत्ति के उपरान्त सागर की उत्पत्ति का कोई प्रकरण सम्भव न होने से, 'समुद्र' शब्द का अर्थ आकाश व अन्तरिक्ष ही लिया जाना चाहिये। जिसमें सभी पदार्थ (अर्ण) गति करते, आते-जाते हैं, वह अन्तरिक्ष (अर्णवः)× गतिशील किरणों और तेज की लहरों के आने-जाने का स्थान है। अतः रात्रि और समुद्र से अभिप्राय, त्रिगुणात्मक प्रकृति और आकाश होता है।

रात्रि—रज तमोगुण; समुद्र-सत्वगुण

निघंटु १-७ में रात्रि शब्द के २३ नाम पठित हैं; उनमें 'तमः' और 'रजः' इन दो प्रकृति के गुणों को भी गिनाया है तथा रात्रि को ही 'दोषा' (दोष वाली) अर्थात् रज व तम रूप दोष वाली बताया है। इसी 'सत्व रज-तम' रूप प्रकृति से सृष्टि प्रकट होती है इसलिए यह प्रकृति ही "अक्तुः"† रात्रि के नामों में पठित है। यह 'रज और तम' गुण वाली प्रकृति आती-जाती है—गति करती है, इस कारण यह प्रकृति ऊर्मि* (रात्रि नाम वाली) है, और समुद्र—सत्व गुण प्रधान प्रकृति—(अन्तरिक्ष) इसके आने-जाने का स्थान है।

'रात्रि और समुद्र' (प्रलय और सृष्टि)

'वहति-प्राप्नोति पदार्थान्' तथा 'वहति यत् इति ऊधः'‡ के

× प्राणाः वा अर्णवः, यजु १३-५३, श० ७-५-२-५१।
† उ० को० ३-८६। * उ० को ४-४४। ‡ उ० को० ४-१९३।

अनुसार निघंटु में पठित 'रात्रि' का नाम धेय, ऊधः (प्रलय) वह स्थान है, जहाँ सब पदार्थ अन्त में चलकर पहुंचते हैं। ग्रंस (दिन में) व सृष्टि काल में सूर्य निरन्तर रसों को ग्रसता है। रात्रि में रस, गोस्तन में इकट्ठे होकर वहने योग्य होते हैं वा जैसे रात्रि में ओस कण बनने का अवसर मिलता है इसी प्रकार प्रलय में सृष्टि रूप दूध के बहने के लिये मानों रस इकट्ठे हो रहे हों; इस हेतु रात्रि को महाप्रलय कह सकते हैं (अपाप शक्रः ततनुष्टिं ऊहति तनूशुभ्रं)ॐ सर्व शक्तिमान्, इस विस्तृत कान्तिमान् (अहः) विश्व रूप चराचर जगत को 'नष्ट'¶ करता है। यह रात्रि (प्रलय ही) राति* (पूर्ण विराम देने) कारण से समग्र विश्व को विलीन करती हैं, अतः प्रलय को ही रात्रि कहते हैं। इस सहचार से समुद्र (सम्यक् उद्रेकात्) प्राकृत सृष्टि को कहेंगे जो सर्वथा उत् (ऊपर) गति करती दृष्टि गत होती‡ है। "समउद् द्रवन्ति अस्मात आपः" वा 'सम् मोदन्ति अस्मिन् भूतानि प्रमाण* से इसी सृष्टि में (आपः) कर्म का प्रवाह चलता है, अथवा (आपः) जल अग्नि वायु विद्युत् प्रकाश आदि इसी सृष्टि में उदय होकर मानों दौड़ रहे हैं, अथवा प्राणिवर्ग वा

ॐ नि० नैगम ६-४-१८। ¶ अंधः रात्रिः तां० ६-१-७, ऋ० ८-६२-१। तमइवहिं रात्रिः मृत्युः इव ऐ० ४-५। *उ० को ४-६७।

* नि० दै० ६-३-२७। ‡ अयं वै समुद्रः यः अयं पवते एतस्मात् वै समुद्रात् सर्वेदेवाः सर्वाणि भूतानि समउद्रवन्ति—जिससे सब वायु आदि देवता व सब प्राणी प्रकट हो दौड़ते से दीखते हैं वह (सृष्टि) समुद्र है, श० १४-२-२-२।

पंच महाभूत (पृथ्वी आदि) को इसी सृष्टि में संयोग प्राप्त होता है, अथवा 'मुद्' धातु से 'सम् मोदयन्ति 'अस्मिन् भूतानि'※ इस प्रकार व्युत्पत्ति करके समुद्र यह सृष्टि है जिसमें सब प्राणी वा पृथ्वी आदि भूत पदार्थ एक दूसरे से संसर्ग (मेल) करते हैं।

इस प्रकार 'रात्रि' प्रलय वाचक है तथा 'समुद्रः अर्णवः'—यह आने-जाने, कर्म और संसर्ग का स्थान—सृष्टि का द्योतक है। यही सृष्टि और प्रलय क्रम एक दूसरे के उपरान्त इसी प्रकार अवश्यम्भावी हैं जैसे दिन के उपरान्त रात और रात के उपरान्त दिन, वा जैसे मृत्यु के उपरान्त जन्म और जन्म के उपरान्त मृत्यु। प्रलय हो तो सृष्टि की ही हो सकती है और सृष्टि का होना भी प्रलय अवस्था से ही हो सकता है।

—:०:—

"संवत्सर" शब्द के अर्थ

अघमर्षण मंत्रों में संवत्सर की उत्पत्ति (समुद्र से), अन्तरिक्ष वा आकाश से, बताई गई है। समुद्र व रात्रि, सृष्टि और प्रलय के, अथवा त्रिगुणात्मक प्रकृति और महदाकाश के वाचक हैं। अतः इनसे संवत्सर की उत्पत्ति मानो सृष्टि काल की प्रथम रचनाओं का वर्णन है। केवल त्रिगुणात्मक प्रकृति और महद्आकाश से, बिना सूर्य पृथ्वी तथा पंच महाभूतों के बने ग्रीष्म-वर्षा आदि ऋतुएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। अघमर्षण मंत्रों

※ नि० नैघं० २—३—१०।

में से दूसरे मंत्र में सीधे समुद्र (अन्तरिक्ष) तथा रात्रि, (प्रलय वा सृष्टि) से, ऋतुएं उत्पन्न होना असंभव है। यदि समुद्र के अर्थ सागर और रात्रि के अर्थ रात लिये जावें तो भी रात और सागर से ऋतुऐं नहीं बन सकतीं अतः 'समुद्रात् अर्णवात् अधि संवत्सरोऽजायत" इस मंत्रार्थ में संवत्सर का अर्थ ग्रीष्म आदि ऋतुओं का लेना प्रकरण विरुद्ध और असम्भव है।

निरुक्त अ० ४ पाद ४ खंड २६ में संवत्सर विषयक वेद-मंत्रों का उल्लेख है। जहाँ संवत्सर के अर्थों की संगति (ऋतु समुदाय) काल में घटती है, वहाँ जो अन्य अर्थ भी घटते हैं वे विचारणीय हैं। अतः निरुक्त प्रतिपाद्य वेद मंत्र हम उद्धृत करते हैं।

'सप्त युञ्जन्ति रथमेक चक्रं एको अश्वो वहति सप्त नामा।
त्रिनाभि चक्रम् अजरं अनर्वं यत्रइमा विश्वा भुवनाधितस्थुः॥

यहां चक्र का वर्णन है जिसमें 'चक'* (तृप्ति और प्रतिघात) रूप क्रिया हो रही है। जिसमें 'चर' अर्थात् गति और भक्षण रूप, क्रिया होती है; अथवा पग २ चलना रूप क्रिया जिसके सहचार में पाई जावे, वह चक्र है। अतः एक चक्र ऐसा है जिसके यह सब विश्व और भुवन (लोक) अधि (भीतर) "सम् तिष्ठन्ति— सर्वथा स्थित हैं। यह चक्र तीन नाभि से बन्धा हुआ है। किसी दूसरे के आश्रित नहीं। निज आधार घूमता है। तीन नाभि त्रिगुणात्मक प्रकृति के सत्व रज और तम, गुण हैं जो

* चकतेः चक्रं—चरतेर्वा, क्रामते र्वा, नि० नै० ४-४-२६-६२।

इस संवत्सर (ब्रह्मांड) के प्रत्येक अंग में व्याप्त, उसे बांधे हुए हैं। शुक्ल प्रकाशकिरण जो सात रंग वाली है वही मानों अश्व (आगे बढ़ाने वाली) इस ब्रह्मांड की है। इन समस्त लोक लोकान्तरों को गर्भ में रखने वाले संवत्सर (ब्रह्माँड) को "तेज का प्रसार ही" प्रसारण क्रिया द्वारा (Pressure of radiation) आगे धकेलता है तथा केन्द्रीय आकर्षण (Gravitation) इसे अन्तः नियमित रखता है। यहां पाठक यह ध्यान दें कि इस मंत्र में तीन नाभि को यदि ग्रीष्म वर्षा और शिशिर (हेमन्त) ऋतुएं मान लें तो मन्त्रार्थ यह होगा कि इन तीन ऋतुओं में समस्त लोक बन्धे हैं। भला उत्तरी ध्रुव पर ग्रीष्म का किंचित् अभाव है ही, पर सूर्य में तो वर्षा व हेमन्त ऋतुएँ आप कहाँ पायेंगे; अतः जहां "विश्वा भुवनाः" समस्त लोक निवास करें वह संवत्सर तो ब्रह्माँड ही होगा। संकुचित क्षेत्र में केवल पृथ्वी पर ही 'तीन ऋतुओं के अर्थ वर्ष को आप भले ही संवत्सर कहें। संवत्सर रूप ब्रह्माँड में ही, जहां सत्व रज तम (गुणों) की रस्सियां * हैं, रज (प्राण) द्वारा, तम रूप अन्न का भक्षण सम्भव है। ब्रह्माँड में ही तृप्ति (आकर्षण—attraction) और प्रतिघात (धकेलना—Repulsion या Reaction), तीनों सत्व रज तम गुणों के भेद से संभव भी है। अतः संवत्सर शब्द "ब्रह्माँड अर्थ" में जो चक्राकार (अंडाकार) है, प्रयुक्त हुआ है। इसी संवत्सर

*उ० को० ४-१२६ नह्यति, दुष्टं नाडीर्वा, बध्नाति इति नाभिः—रस्सी।

के विषय में अन्य मंत्र भी निरुक्त में लिखे हैं वे भी हम संगित दिखाने हेतु यहां देते हैं।

पंचारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन् आतस्थुः भुवनानि विश्वा।
तस्य न अक्षः तप्यते भूरिभारः सनात् एव न शीर्यते सनाभिः॥

अर्थः—इस ब्रह्मांड में परिवर्तन नियम है अर्थात् वस्तुओं का रूपान्तर होता है—नाश नहीं, (जैसे जल का वाष्प बन कर विलीन प्राय होना वा बर्फ बन कर ठोस हो जाना)। पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश पंच महाभूत, अथवा आत्मा सहित अहंकार चतुष्टय यह पांच, वा पांच ज्ञानेन्द्रियें, वा पांच प्राण ही मानो इस ब्रह्मांड चक्र के ५ अरे हैं इस की धुरी अत्यंत भार को वहन कर रही है, (आकर्षण रूपी केन्द्रीय आधार) फिर भी तप्त नहीं होता, त्रिगुणात्मक रस्सी (जो नाभि है) वह भी टूटती नहीं।

शतपंथ ब्रा० ११-१-६-१/२ के कुछ वाक्यों में इस ब्रह्माण्ड का संवत्सर होना कितने स्पष्ट शब्दों में कहा गया है, पाठक देखें—

"आपः वाइदम् अग्रे सलिलमेव आस। ता अकामयन्त कथमनु प्रजायेमहि इति। ता अश्राम्यम् तपः अतप्यन्त तासु तपः तप्यमानासु हिरण्यमयं आण्डꣳसम्बभूव आजातः हतर्हि संवत्सर आस तद् इद ꣳ हिरण्यमयं आण्डं या संवत्सरस्य वेला तावत् परि अप्लवत्। ततः सम्वत्सरे पुरुषः समभवत्"।

अर्थः—प्रारम्भ में यह सब जलमय (अर्थात् ऋत और सत्य रूप जलमय) था। उन ऋत और सत्य द्वारा किस प्रकार सृष्टि उत्पन्न हो, इस हेतु वह जो ईश्वरीय तप था उसने, इस जलमय पदार्थ को तपा। उन तप्त (गर्म) जलमय (Gaseous) पदार्थों में (गति प्रभाव से) वृहत् अण्डा बना, वह उष्णता के कारण चमकता था। यह चमकता अण्डा ही संवत्सर हुआ—यह अण्डा सृष्टि काल तक के लिये विस्तृत चारों ओर फैला हुआ है। इस ब्रह्मॉंड में ईश्वर-जीव पुरुष रूप से प्रकट हुए। संवत्सर का इतना स्पष्ट 'ब्रह्माण्ड' अर्थ और कहां मिलेगा ?

'संवत्सर' के समस्त अंगों में पांच पाद, बारह आकृति, दिवः (द्युलोक) का पिता होना, एक अर्ध भाग (प्रलय) में जल रूप ही मानो हो जाना, यह लक्षण भी लिखे हैं—इस के दूसरे (अयन) भाग में, जहाँ सूर्य की किरणों का विस्तार है अर्थात् 'सृष्टि' में मनुष्य निवास करते हैं—इस लोक (पृथ्वी) भाग में छः ऋतुएँ भी पाई जाती हैं। इसी ब्रह्मांड में संवत्सर का अर्थ करते समय षट् अरे ६ दिशा हैं, इसी से द्युलोक उत्पन्न होता है, तथा १२ मास, ३६० दिन, ७२० दिनरात अर्थात् वर्ष आदि भी इसी में होते हैं। अतः संवत्सर का पूर्णाङ्ग अर्थ "दिशा (Directional Space) काल (Time) और अंडाकार रूप ब्रह्मॉंड है। समस्त लोक लोकान्तर और विश्व मात्र जिनमें सम्यक् निवास* करते

* सम्यक वसन्ति अत्र स संवत्सरः (उ० को० ३-७२)

हैं, उन दिशा, काल और अंडाकार ब्रह्मॉड—इन तीनों को ही संवत्सर कहेंगे।

—:०:—

"अहो रात्रि" का अघमर्षण मंत्र २ में अर्थ।

१. जहाति—पृथक् करोति अंधकारम् 'इति' 'अहः'* जो अन्धकार को छोड़ दे वह "अहः" (दिन) है। निघंटु में 'अह'† शब्द के नाम वाची १२ शब्द दिये हैं। वस्तः (जहां रहते हैं वह वस्तोः) अहः है। 'द्युः'—'प्रकाश लोक', भी 'अहः' कहलाता है। 'अहः' घर्म को भी कहते हैं तथा 'दीप्यते प्राणिनः जगत् वा, येन स घर्मः'‡ जिससे प्राणीवर्ग अथवा समस्त जगत प्रकाशित होता है वह ही 'घर्म' अर्थात् 'अहः' है। जो चलता है वा प्रकाशित होता है उसे भी घृणः (अहः) कहते हैं 'जिघर्त्ति-त्तरति दीप्यते वा स घृणिः' ¶।

यह सब लक्षण सृष्टि में घटते हैं, अतः 'अहः' मंत्र में, 'सृष्टि' वाचक है। तदनुसार 'रात्रि' का अर्थ जैसा पूर्व लिख चुके हैं, 'प्रलय' होगा। सृष्टि और प्रलय क्रम को ही 'अहोरात्रि' कहेंगे।

२. 'रात्रि और समुद्र' शब्द वाच्य त्रिगुणात्मक प्रकृति और महद् आकाश, तथा च प्रलय और सृष्टि, इन के उपरान्त 'संवत्सर' रूप 'दिशा, काल, और

---

* उ० को० १-१५८। † निघ० १-६। ‡ उ० को० १-१४६। ¶ उ० को० ४-५२।

अंडाकृति रूप ब्रह्मांड' की रचना का वर्णन इस दूसरे अघमर्षण मंत्र के पूर्वार्ध में आया है। इस सृष्टि रचना की सीढ़ी से लेकर 'दिन रात' की उत्पत्ति तक पहुँचने के लिये द्युलोक, पृथ्वी, सूर्य आदि की उत्पत्ति होनी पहिले आवश्यक है। परन्तु सूर्य—पृथ्वी की उत्पत्ति का विषय तीसरे मंत्र में है, इस हेतु प्रकरणानुसार 'अहोरात्रि' के अर्थ 'दिन रात' इस दूसरे मंत्र में, जहाँ प्रारम्भिक सृष्टि, आकाश, और दिशा, काल, और ब्रह्मांड की उत्पत्ति का विषय है, नहीं लिये जा सकते। ऐसा करने से सूर्य—पृथ्वी से पूर्व 'दिन रात' की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो असम्भव है, अन्यथा तीसरे मंत्र को दूसरे मंत्र से पहिले संध्या के अघमर्षण मंत्रों में लिखा जाना चाहिये। पर इस प्रकार मंत्र क्रम भी बदलना नहीं बनता क्योंकि फिर 'अर्णवः समुद्रः' शब्दों का * पहिले मंत्र से दूसरे मंत्र में जो सहचार है वह जाता रहता है। अतः अहोरात्रि से अर्थ 'दिनःरात' अर्थ यहाँ नहीं। इस दूसरे मंत्र में 'प्रलय के वश करने वाले परमात्मा द्वारा उन सृष्टि और प्रलय का नियमानुकूल बनना' ही विषय दर्शाया है।

३. तीसरा कारण अहोरात्रि के अर्थ 'दिन रात' न मानने में यह है कि 'मिषतः' 'आँख वन्द होते हुए' इन शब्दों का कथन 'विश्व' के सहचार में, मंत्र में किया गया है। विश्व तो दिन रात दोनों में ही आँख बन्द नहीं करता। विश्व के 'सूर्य' भाग में

---

* पहिले मंत्र के अन्त में और दूसरे मंत्र के आदि में 'समुद्र, अर्णव' शब्द हैं।

रात तो होती भी नहीं। प्राणि वर्ग तथा वनस्पति तक, हृदय गति वा पाचनादि क्रिया तथा जीवन संबन्धी रस संचार निरन्तर करते हैं। अतः विश्व का आँख वन्द होना, 'प्रलय' ही हो सकती है।

दूसरे अघमर्षण मंत्र में, 'दिशा काल व अंडाकृति' (संवत्सर) और सृष्टि वा अन्तरिक्ष (Ether) बने हैं। क्रमानुसार इन के बाद द्युलोक, पृथ्वी और स्थूल आकाश की उत्पत्ति तीसरे मंत्र में आई है। इस क्रम उत्पत्ति में 'दिन रात' की बीच में कल्पना करना अयुक्त है।

अगले तीसरे मंत्र में 'सूर्य, द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, और स्वः' इन की उत्पत्ति कह कर ही विषय समाप्त हो जाता है। फिर सूर्य—पृथ्वी से पूर्व दूसरे मंत्र में 'अहोरात्रि' शब्दों से 'दिन रात' अर्थ लेना असंगत ही होगा।

(४) ऐतरेय ब्राह्मण ५-३० में लिखा है कि एतेहवै 'संवत्सरस्य चक्रे यत् अहो रात्रे'। यह अहोरात्रि—ब्रह्मांड का ही मानो (सृष्टि प्रलय) रूपी चक्र है।

तां० ब्रा० ४-१-१४ में कहा है कि 'एतम् अतिरात्रं अपश्यत तमाहरत् तेन अहोरात्रे प्राजनयत्'। इस अतिरात्रि को उसने देखा और उसे लेकर उसने अहोरात्रि को उत्पन्न किया। ता० ब्रा० १०-४-१ के अनुसार, भूत भविष्यत का विचार करते हुए उस ब्रह्म ने सृष्टि प्रलय को रचा यह अर्थ होगा। श० ३-७-४-१० के अनुसार भी 'अहोरात्रेऽएवविष्णुक्रमाभवन्ति। तथा च 'अहो (अग्नि)

रात्रेश्च (सोमः) यः अन्तरालः कालः तद् विष्णुः' श० ३-४-४-१५। अर्थात् तेज जिसमें विलीन होता है वह ब्रह्म ही अहोरात्रि रूप सृष्टि प्रलय क्रम को चलाता है।

इन सब हेतुओं से अहोरात्रि से अर्थ केवल 'सृष्टि और प्रलय चक्र' का लेना चाहिये।

"सूर्या-चन्द्रमसौ"

सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों से अभिप्राय लोक प्रसिद्ध सूर्य और चन्द्रमा से प्रायः होता है। परन्तु इस तीसरे अघमर्षण मंत्र में 'दिव्' लोक अर्थात् प्रकाशमय पिंडों की रचना का वर्णन है। इस दिव् लोक में स्पष्ट सूर्य चन्द्रमा सम्मिलित हैं। और "दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षं" अर्थात् द्युलोक, पृथ्वी और आकाश इन शब्दों द्वारा लगभग समस्त लोकों की रचना का संक्षिप्त वर्णन है। यद्यपि प्रथम मन्त्र में ऋतं और सत्यं रूप जोड़े का संकेत प्रारम्भ में ही कर दिया है परन्तु भौतिक संसार की उत्पत्ति में जीवों से सम्बन्धित प्राणमय और मनोमय सूक्ष्म रचना का निर्देश स्पष्ट दूसरे मन्त्र तक नहीं आया है। अतः तीसरे मंत्र में उपसंहार करते हुए, 'सूर्या चन्द्रमसौ' से प्राण और मन, लेकर आध्यात्मिक जगत की रचना मानी जावे और 'दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षं' से समस्त भौतिक जगत की रचना मानी जावे तदनन्तर "स्वः', मानो सृष्टि के प्रयोजन स्वरूप 'विचाराश्रित सुख वा

आनन्द लोक की" कर्मोंद्वारा प्राप्ति का वर्णन माना जावे तो तीनों अघमर्षण मंत्रों का अर्थ, अत्यन्त रोचक तथा युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। अतः 'सूर्या चन्द्रमसौ' का अर्थ हमने प्राण और मन किया है। तथा च क्योंकि 'दिव्' शब्द में हमने सूर्य चन्द्रमा का वर्णन किया ही है, इस हेतु मन्त्र के भावार्थ में कोई कमी नहीं है। सूर्या चन्द्रमसौ के इस अर्थ के लेने में प्रमाण ये हैं:—

सूर्य = प्राण

सूर्या—सूर्य से स्त्रीलिंग होकर निघण्टु में 'वाणी' के नामों में गिनाया गया है। वाचस्पति (वाणी का पति) प्राण* ही इस हेतु सूर्य है। सूर्या सूर्यस्य पत्नी' यह शब्द निरुक्त (१२-१-८-३) में दिए हुए हैं। उणादि कोष (२-२४) की व्याख्या में स्वा० दयानंद लिखते हैं—""सूयते वा सुवति—प्राणिनः समर्थयति इति सूरः। सूर्यो वा" प्राणियों को उत्पन्न और सामर्थ्यवान् जो बनावे यह 'प्राण' ही सूर्य है।

श० १४-१-४-२ य एष तपति एष हि इदं सर्वं गृहणाति एतेनइदं सर्वं गृभीतम्—यह सूर्य की परिभाषा प्राण में भी घटती है तथाच—स एष (सूर्यः) मृत्युः श० १०-५-१-४ एष वै यमः यजु० ३७-११ एष वै गर्भः देवानां (इन्द्रियाणां) यजु ३७-१४ से भी स्पष्ट सूर्य शब्द से प्राण का ग्रहण होता है।

* निरुक्त दै० कां० (१०-२-१८-१०) वाचस्पति = प्राण ।

तदसौ वाआदित्यःप्राणः जै० उ० ४-२२६। आदित्यो वै प्राणः जै० उ० ४-२२-११। प्राणः वा अर्कः श० १०-४-१-२३; तथा च श० ६-४-२-२५ में अर्क वा सूर्य यह सब अग्नि के पर्यायवाची बताये हैं।

इस प्रकार और भी अनेक प्रमाण उपनिषदों में उपलब्ध हैं जिन से सूर्य शब्द प्राण वाचक सिद्ध होता है।

चन्द्रमस्= मन

इसी प्रकार 'मनश्चन्द्रमा' जै० उ० ३-२-६, यत्तन्मन एष सचन्द्रमा श० १०-३-३-७, आदि प्रमाणों से "चन्द्रमा" मन का वाचक है।

'चदि'(अ) धातु से जिसका अर्थ कान्ति में होता है रक् प्रत्यय करके 'चन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। 'चन्दति, हर्षयति दीपयति वा सचन्द्रः" * जो हर्ष करे वा प्रकाशवान् हो वही चन्द्रमा है "दूरंगमं ज्योतिषां ज्योति रेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" तथा "यज्ज्योतिः अन्तः अमृतं प्रजासु तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि प्रकाशवान् सुख देने वाली अन्तः ज्योति मन ही है। अतः चन्द्रमा मन को कहेंगे।

'तपति तापहेतुः भवति स तपसः ‡ चंद्रमा वा' इस उणादि कोष व्याख्या में चन्द्रमा उसे कहा है जो दुःख दाह वा ऐश्वर्य पाता है वा इनके पाने में हेतु है। स्पष्ट है कि यह चन्द्रमा मन भी है

* उ० कोष (२-१३)। ‡ उ० को० (३-११७)।

(अ) निरुक्त (११-१-५;३)।

जो दुःखी होता—ईर्ष्या द्वेष काम क्रोध आदि में दाह पाता तथा सुख ऐश्वर्य भोगता है।

उपरोक्त हेतुओं से "सूर्याचन्द्रमसौ" का अभिप्राय प्राण और मन से है।

अब हम अघमर्षण मन्त्रों का शब्दार्थ सुगमता से कर सकते हैं।

अथ अघमर्षण मंत्राः

१ ओ३म् ऋतं च सत्यं च अभीद्धात् तपसः
अधिअजायत। ततोरात्रिः अजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ॥

२ ओ३म् समुदात् अर्णवात् अधि संवत्सरोऽजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥

३ ओ३म् सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षम् अथः स्वः॥

अर्थ मंत्र १—'ओ३म्' अविनाशी ब्रह्म (सृष्टि रचना काल में) तप करता है। 'तस्यज्ञानमयं तपः' * उसका (सृष्टि रचना तथा जीवों के कल्याण हेतु) "ज्ञान पूर्वक तप" होता है। इस तप के होने पर मानो वह ब्रह्म संतप्त हो रहा है। (अभि) ‡ सृष्टि रचना की ओर उसका प्रकाश 'इद्ध' चमकता—दीप्तिमान् प्रतीत हो रहा है। इस देदीप्यमान् (ओ३म्) अविनाशी

* तै० उप० (ब्र० व० ६-भृ० व० २), ‡ निरुक्तभूमिका (१-३)।

ब्रह्म के ज्ञानमय (तपसः) तप के प्रभाव से तीन पदार्थ (सृष्टि रचना हेतु (अधि) ❀ उसी अविनाशी ब्रह्म के अधिष्ठान में (अजायत) प्रकट हुए। "ऋतं च सत्यं च तपसः" (१) (ऋतं) सुख दुःख ऐश्वर्य का (अन्तः करण द्वारा) भोक्ता जीव (२) (सत्यं) (उन जीवों के पूर्व सृष्टि के शेष कर्मों और संस्कारों के अनुकूल सुख दुःख ऐश्वर्य सम्पादन करने वाली) प्रकृति तथा (३) (तपसः) साक्षीरूप 'ज्ञान और तप (क्रिया) का' जीव और प्रकृति में सन्निधान करने वाला ईश्वर, इस प्रकार यह तीन ईश्वर, जीव, प्रकृति (तपसः, ऋतं, और सत्यं रूप) प्रकट हुए ‡। इसी (तपसः) ज्ञानेश्वर व तपेश्वर ईश्वर के प्रभाव से 'ऋतं और सत्यं' रूप (मिथुन) † जोड़ा उत्पन्न हुआ। इसी "ईश्वर जीव प्रकृति" से आगे सृष्टि में (ऋतं, सत्यं, और तपसः रूप) तीन २ पदार्थों की परस्पर सम्बद्ध रचना (त्रिवृत्ती करण रूप से) प्रकट हुई *।

ईश्वर जीव प्रकृति के त्रिवृत्ती करण द्वारा और ऋत और सत्य रूप गतिशील और स्थिर पदार्थों के (जोड़े)) से, (उसी ब्रह्म में लय होकर) (रात्रि) प्रलय होती है, और (समुद्रः) सृष्टि (अजायत) हुई थी। अथवा (तपसः) ईश्वर जीव प्रकृति और ऋतं और सत्यं रूप जोड़े से (ततः रात्रिः अजायत) सृष्टि [जो सुख दुःख ऐश्वर्य (राति) देती है] उत्पन्न हुई और (ततः)

❀नि० भू० (१-३), ‡ ईश्वरीय शक्ति के प्रकट रूप के विषय में देखो पृ० ४, † छां० उ० २-१३-२, बृ० उ० १-४-४ * छां० उप० ६-३-३।

सृष्टि प्रारम्भ से (समुद्रः) सूक्ष्म महद आकाश—Ether (अजायत) उत्पन्न हुआ। इन्हीं ईश्वर के (तपसः) तपः-प्रभाव (क्रिया सन्निधान) से (सत्व रज तम तीनों गुणों की साम्य अवस्था वाली प्रकृति में) (रात्रिः) रजोगुण और तमोगुण पृथक हुए और (समुद्रः) (प्रकृति के सत्व गुण से) महत् तत्व उत्पन्न हुआ। यह (समुद्रः) सूक्ष्म महत् आकाश Ether, वा महत् तत्व (प्रकाश युत सत्वगुण) सृष्टि में (अर्णवः) वह स्थान वा हेतु है जिनमें से, या जिनके (अधि) ❀ तल पर समस्त विश्व और विश्व की शक्तियां (अर्णवः) मानो लहरों (Vibrations and waves) की भाँति, गति करती वा आती जाती प्रतीत होती हैं। यह (समुद्रः) महदाकाश Ether, वा महत् तत्व (अर्थात सत्व गुण युत बुद्धि तत्व) और सृष्टि ही (अर्णवः) विश्व की समस्त क्रियाओं को (अधि) धारण और प्रकट करते हैं।

अर्थ मंत्र २—(ओ३म् समुद्रात् अर्णवात् अधि)—अब इस (अर्णव) गति के स्थान (समुद्र) सूक्ष्म महदाकाश Ether, वा महत् तत्व (बुद्धि तत्व) वा सृष्टि क्रिया से (अधि) प्रकट होकर (संवत्सरः) काल, दिशा Time & Space, और (विशिष्ट सत्व रज तमोगुण सहित प्रकृति और सूक्ष्म भूत संयुत) ब्रह्मांड, (अजायत) उत्पन्न हुए। अर्थात् 'ऋतं'—गतिवान् पदार्थों के 'सत्यं' केन्द्रस्थ पदार्थों

❀ नि० भू० (१-३)।

के चारों ओर गति करने में, केन्द्रीय आकर्षण (तपसः) द्वारा (संवत्सरः) इस घूमते हुए विश्व की अंडे जैसी अवस्था (अंडाकृति) (अजायत) उत्पन्न हुई। इसी (संवत्सर) अंडाकृति ब्रह्मांड में अनन्तर सृष्टि हेतु (तपसः) जीव, ईश्वरीय शक्ति तथा प्रकृति, जनित (ऋत और सत्य रूप जोड़े) सभी पदार्थ (सम्यक् वसन्ति अत्र स सम्वत्सरः) * सर्वथा रहे आये।

इस प्रकार जो यह विश्व, (मिषतः) कभी सृष्टि रूप जागता कभी (रात्रिः) प्रलय रूप सोता-विलीन होता और पूर्णविराम ‡ को प्राप्त होता है, वह यह सृष्टि और प्रलय उसी (वशी) परमात्मा के वश में हैं—यह सृष्टि और प्रलय उसी के अधिकार में हैं। उसके, अपने ज्ञान और तप (क्रिया) द्वारा, प्रभावित होने से सृष्टि होती तथा उसी के निज 'ज्ञान मय तप' के अन्तर्हित होने से प्रलय होती है। उसी (वशी) विश्व की सृष्टि और प्रलय के वश में करने वाले ईश्वर ने, इन (अहोरात्राणि) ❋सृष्टि और प्रलय क्रम को (वि) ❋ भिन्न २ रूप में (दधत्—अदधत्) धारण किया है।

अर्थ मन्त्र ३—ऋतं सत्यं रूपी मिथुन (जोड़े) को उत्पन्न करके तथा समस्त विभिन्न-प्रकारों से-'ऋतं सत्यं और तपस':-के त्रिवृत्ती करण—तथा संघात और विभाग से, जो सृष्टि रचना हुई उसे

---

* उ० को० (३-७२); ‡ राति—ददाति इति रात्रिः—विरामं ददाति इति, (उ० को० ४-६७); ❋ नि० भू० (१-३)।

उपासक पूर्वोक्त त्रिवृत्तीकरण के नक़शे में देख कर पृष्ठ ५२-५३ के अनुसार तथा अन्यथा भी ध्यान पूर्वक जान लें। पहिले दो मन्त्रों द्वारा अद्भुत शब्दों में विस्तृत सृष्टि और प्रलय का भेद छिपा है। उसी को संक्षेप से इस तीसरे मंत्र में मानो उपसंहार करते हुए बताते हैं—कि, प्राणियों के उत्पन्न वा समर्थ करने हारे (सूर्य) प्राण, और प्राणियों को सुख ऐश्वर्य सम्पादन हेतु प्रवृत्त करने वाले (चंद्रमस) मन को, पृष्ठ २३ पर हम 'ऋतं' शब्द से व्याख्यात कर चुके हैं इन (गति) क्रिया करने वाले 'सूर्या चन्द्रमसौ' प्राण और मन को वही परमात्मा अपने प्रकृति में आधान किये हुए तपः प्रभाव (क्रिया शक्ति-तेज) से (धाता) धारण करता है अर्थात् (ऋतं) इन गतिशील (सूर्य चन्द्र) वाच्य प्राण और मन को वही (तपसः) परमात्मा निज व्याप्ति* द्वारा (सत्यं) सुख-भोग-और मुक्ति की ओर (धाता) ‡ आकर्षित करता है। परमात्मा ही-निज शक्ति की व्याप्ति से, इन भोग की ओर गति करने वाले (ऋतं) भोक्ता (सूर्या चन्द्रमसौ) प्राण और मन को तथा उन (चन्द्रमस) भोगों को भी (धाता) धारण किये हुए है। यह प्राण और मन (तपसः) परमात्मा की निज शक्ति से (ऋतं) जीव और (सत्यं) प्रकृति

*सांख्य दर्शन ५—(२९-३२) व्याप्तिः—न तत्वान्तरं

‡ गणित का सिद्धान्त है कि वृत्त में घूमने वाला पिंड केन्द्र की ओर आकर्षित होता है।

संयोग द्वारा (उद्भव) ❀ उत्पन्न हुए हैं। यही निज शक्ति द्वारा उत्पन्न करना, उसकी शक्ति की व्याप्ति तथा उसके धारक होने में कारण है।

उस (धाता) प्राण और मन रूप (सूर्यचन्द्रमा) को धारण करने वाले ब्रह्म ने इन (सूर्याचन्द्रमसौ) प्राण और मन को, अथवा "सूर्याचन्द्रमसौ" प्राण और रयि (अन्न) रूप ऋत और सत्य के मिथुन (जोड़े) को, (यथा पूर्वं अकल्पयत्) जैसा पूर्व दो मन्त्रों में कहा है, रचा। अथवा इन प्राण और मन, वा प्राण और रयि (अन्न) को, उस (धाता) परमात्मा ने (यथा पूर्वम् अकल्पयत्) जैसा पूर्व सृष्टि में इन्हें रचा था तदनुकूल, इस सृष्टि में भी रचा है। उसने (दिवं) द्युलोक को, जिसमें ये लोक-प्रसिद्ध सूर्य, तारा, चन्द्रमा आदि प्रकाशवान् ग्रह, उपग्रह, भरे पड़े हैं रचा; तथा च उसने (दिवं) विद्युत अग्नि, वायु, जल आदि दिव्य तेजोमय पदार्थों को रचा; तथा (च) (यथा पूर्वं) पूर्व सृष्टि के अनुकूल वा पूर्वोक्त क्रम और विस्तार से—उसने (पृथिवीं च अन्तरिक्षं) पृथ्वी और अन्तरिक्ष (स्थूल आकाश) को भी रचा। और (यथा पूर्वं) जीवों के पूर्व सृष्टि और पूर्व-जन्म के जैसे भी शेष संस्कार थे उन्हें भोगने में समर्थ करने के हेतु तदनुकूल ही, (स्वः) भावना मय — वासना मय उन संस्कारों को भोगने के उपयुक्त, (स्वः) सुख-दुःख रूप प्राकृत

❀ व्याप्ति—निज शक्ति उद्भवम्—आधेय शक्ति योगः, सां० द० ५-(२९/२३)।

सामग्री में सुख व दुःख को (अकल्पयत्) प्रकट किया। जीवों की मुक्ति हेतु जीवों में, (स्वः) निज ज्ञान व आनन्द को अन्तः प्रवाहित किया। तथा, भोक्ता (मन बुद्धि चित्त अहंकार) के हेतु, वासनामय सुख संसार की कल्पना शक्ति, उन ईश्वर जीव ने "मन बुद्धि चित्त अहंकार" में उत्पन्न की और उस सुखमय वासना के अनुकूल ईश्वर ने सृष्टि के पदार्थों को (स्वः) भोग रूप इन्द्रिय ग्राह्य वनाया (जिससे कि जीव, प्राकृतिक सुख दुःख में, ज्ञान द्वारा, अनन्त सुख रूप ब्रह्मशक्तियों को देखे; और निज अन्तः सुख भावना को प्रकृति उन्मुख तृप्त न होता देख कर अन्त में, ब्रह्म साक्षात् द्वारा 'मुक्ति' ‡ की ओर गति करे)

अघमर्षण मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या सहित उपासक की विचार धारा

इस विश्व में सभी वस्तु बनते बिगड़ते रहते हैं। प्राणी जिसे सुख जानता है, उसे स्थिर रखने का जीवन में प्रयत्न करता है, पर वह सुख-मय पदार्थ नष्ट हो जाता है, और सुख-मय पदार्थ के वियोग से दुःख होता है। इसी प्रकार सुखमय पदार्थ प्रायः प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होते, कभी दुःखमय पदार्थ मनुष्य को प्राप्त होते हैं तो मन दुःखी होता है, जीवन भार स्वरूप जान पड़ता है। अतः यदि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय के विज्ञान को जानकर हम सत्य स्थिर सुख की खोज

‡ ब्रह्म-निर्वाणं ऋच्छति (गीता)।

निज जीवन काल में करें तो हमें यह उपदेश मिलता है कि किस प्रकार निर्लिप्त रहता हुआ ब्रह्म ही विशेष प्रभाव से प्रकृति को सत्व, रज, तम रूप त्रिगुणात्मक बना कर क्रियाशील जगत को बनाता है; तथा च ईश्वरोन्मुख मुक्ति और आनन्द, वा प्रकृति उन्मुख पूर्व संस्कार और वासनाओं की पूर्ति करने के हेतु, वही ब्रह्म किस प्रकार प्राण और मन की जीवों के हेतु, सृष्टि करके, उन जीवों को प्रकृति में घुमाता हुआ मानो यह उपदेश करता है कि प्राकृतिक पदार्थ विनश्वर हैं। यहाँ प्रकृति में एक भक्षक प्राण है तो दूसरा भक्ष्य रयि है। जो भक्षक प्राण है वही समयान्तर में शरीर से पृथक् होता है और प्राण हीन शरीर स्वयं भक्ष्य बनता हुआ विनष्ट होता है। चराचर विश्व में व्याप्त तेज और जीवों में अन्तः सुख भावना उसी अविनाशी ब्रह्म के प्रताप से प्रकट हो रहे हैं। उसी के प्रताप ने भक्ष्य और भोग्य पदार्थों को विनष्ट होने वाला तथा वासना की पूर्ति करने योग्य बनाया है। परन्तु जीव की अन्तः सुख भावना अमर होने से, नित नई वासनायें सुख हेतु उदय होती और भोग्य पदार्थों के भक्षण और भोग से तृप्त होती हैं; वा तृप्त न होने से जीव को तृप्ति हेतु निरन्तर भ्रमित करती हैं। वासनाओं की संसृति इन विनश्वर भोगों के हेतु नित नई होती रहती है, भ्रमण चक्र समाप्त नहीं होता। तब विज्ञानी पुरुष यह विचार कर सन्तोष लाभ करता है कि जीव और ईश्वर की प्रभुता ही जड़ प्रकृति में व्याप्त हो, इसे रूपान्तर देती है; वह प्रभुत्व शक्ति स्थिर और सत्य है। अपने अन्तः प्रदेश

में जीव उसी ब्रह्म की अन्तः विभूतियों को देख २ अतुल शान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार "अघ" विनाश और हिंसा का रहस्य समझ कर जीव, अपनी अन्तः सुख भावना का सूत्र ब्रह्मानन्द से ही उदय होता देखता है; और उस सुख को प्रकृति उन्मुख न पाकर, जीव अन्तः प्रदेश में ही, स्थायी अमर सुख (ब्रह्म) को प्राप्त करता है।

इस विनाश और उत्पत्ति के रहस्य का यह अघमर्षण मन्त्र अद्भुत रूप से वर्णन करते हैं। जब "मनु" से उपस्थित ऋषियों ने धर्म जिज्ञासा हेतु प्रश्न किया तो 'मनु' ने भी सबसे प्रथम सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करके, इसी विनाश और अमरत्व के रहस्य का प्रतिपादन किया था। अतः हम भी उपरोक्त मन्त्रों में देखें कि किस प्रकार यह सृष्टि उत्पन्न होती है, किस प्रकार इसमें ईश्वर जीव और प्रकृति भाग लेते हैं। जिन शब्दों का इन मन्त्रों में प्रयोग हुआ है वे शब्द अनेकार्थक होकर सृष्टि रचना सम्बन्धी अनन्त विज्ञान को प्रकट करते हैं। एतदर्थ यह मन्त्र तथा अगले मनसा-परिक्रमा मन्त्र नित्य सन्ध्याकाल में नियमित रूप से अनेकांगी भाव से विचारणीय हैं, जिस से जीव इह-लौकिक और पारलौकिक सुख का और मुक्ति का इस जीवन में तथा अनन्तर जीवन में भी सम्पादन कर सके।

अध्यात्म जगत की रचना

अहो! सृष्टि काल है। "अभिइद्ध" अनिर्वचनीय यह

अक्षर ब्रह्म स्वयमेव ही दीप्त हो रहा है मानो जाज्वल्यमान है। इससे स्वभावतः ही ज्ञान और तप, जीव और प्रकृति में मानो उदय हो रहे हैं। जीव और प्रकृति दोनों ही ब्रह्म के आश्रित रहते हैं। अल्पज्ञ जीव में उसी का ज्ञान प्रवाहित हुआ तथा तप रूप तेज शक्ति (निज सामर्थ्य) को उसने प्रकृति में व्याप्त किया। जीवों में ज्ञान प्रकृति विषयक और उनके कल्याण के हेतु निहित है, परन्तु सृष्टि में मनुष्य प्रकृति उन्मुख रहते हैं और ज्ञान स्रोत से विमुख हैं। अतः उनके भोग सम्पादन हेतु जो सृष्टि रचना है वह प्रकृति में मानो गुण भेद सहित क्रिया का आरम्भ है।

प्रलय के उपरान्त अल्पज्ञ जीवों में, सर्वज्ञ ईश्वर की जैसे ही ज्ञान धारा उदय हुई, तो साथ ही साथ तपोमय ब्रह्म की उन जीवों में स्नेह धारा भी बहने लगी। उस स्नेह जल (आनन्दभोग) का पान जीवों के सुख हेतु है, पर जीव उस सुख स्मृति से प्रभावित हो सुख को प्रकृति में खोजता है, अतः प्रकृति विषयक ज्ञान भी जीवों में उदय होना आवश्यक था। यह वेद-ज्ञान रूप ऋतं-ऋषियों (द्रष्टा जीवों) के अन्तः स्थल में प्रकट हुआ, और न केवल प्रकृति एवं च जीव और ब्रह्म भी, इस वेद-ज्ञान के व्याख्यात विषय हुए। यह व्याख्यात विषय 'प्रकृति, जीव, और ब्रह्म' सत्य हैं जिनका, वेद ज्ञान 'ऋतं' रूप से व्याख्यान करता है।

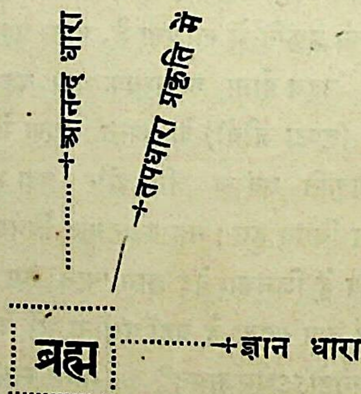
जहाँ ताप बढ़ता है वहाँ पसीना भी आता है। 'तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहोऽऽर्द्रमजायत" ❀ मानो सन्तप्त ब्रह्म के ललाट से

❀ गोपथ ब्राह्मण

स्नेह रूप जल प्रकट हुआ। अतः अल्पज्ञ जीवों में ज्ञान प्रवाह के साथ, स्नेह-सुख की भावना अर्थात् सुखस्मृति भी उत्पन्न हुई। उस सुख भावना की, प्रकृति उन्मुख जीव में, पूर्ति हेतु, ब्रह्म ने प्रकृति को निज तपः तेज प्रभाव से क्रियाशील बना कर, मानो अपनी अनन्त सामर्थ्य और विभूतियों को जीव के प्रति उपस्थित कर दिया, ताकि जीव, प्राकृतिक ज्ञान से, प्रकृतिस्थ ऐश्वर्य को निज सुख भावना के अनुकूल बनावे; साथ ही साथ यदि जीव अन्तः सुखी हो, अन्तः प्रवाहित ज्ञान धारा और स्नेह जल में डुबकी लगाले, तो अक्षय सुख और मुक्ति का आस्वादन कर सके।

इस विषय को कतिपय चित्रों द्वारा दर्शाते हैं।

चित्र नं० १ (अ)

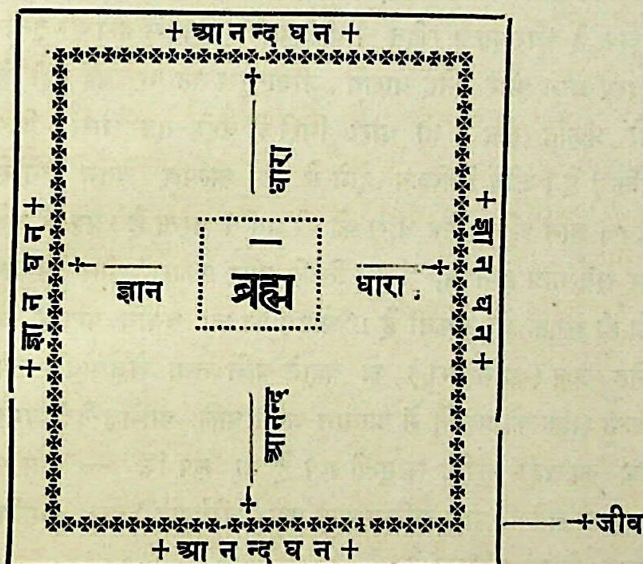


इस पृष्ट के धरातल में ब्रह्म से जीवों तक जो ज्ञान व

आनन्द धारायें बही हैं उनसे भिन्न तप धारा प्रकृति में इस पृष्ठ के धरातल से समकोण वनाती हुई बह रही है।

चित्र नं० १ (व)

जीव-ब्रह्म समन्वय



अनिर्यचनीय ब्रह्म को ऋण (—) चिन्ह द्वारा चित्र में दिखाया है। यह जीव के अन्तः आकाश में सूक्ष्मतया व्याप्त है। जीव के अन्तः तल में ज्ञानधारा बह रही है तथा तप से उत्पन्न पसीने के रूप में मानो स्नेह धारा वह रही है, जीव यदि आत्मतल पर देखता है तो वेद ज्ञान—ज्ञान घन और आनन्द घन को देखता है जो 'ओ३म्' की व्याख्या में विवक्षित तृतीय पाद है। ज्ञान घन तथा आनन्द घन को धन चिन्ह (+) से विव-

त्तित किया है। ज्यों २ ज्ञान घन और आनन्द घन तट से जीव निज आत्म बल द्वारा ब्रह्म तल की ओर खिंचता या बढ़ता है, उसे अन्*अन्त, अनिर्वचनीय, अव्यवहार्य, अचिन्त्य पाता है, अतः मूल ब्रह्म को ("—") चिन्ह से अंकित किया गया है, जो 'नकार' वाचक है और मात्रा रहित चौथा ब्रह्म पाद है। इस ब्रह्म की तृतीय पादस्थ ज्ञान और स्नेह धारायें जीवोन्मुख तट पर बह रही हैं; और प्रकृति तल में जो धारा गिरी है वही तप धारा (क्रिया शक्ति) है। जीव निष्क्रिय होने से तथा अल्पज्ञ, चेतन होने से, केवल ज्ञान और स्नेह धारा को ही प्रतीत करता है। प्रकृति जड़, पर सत् मात्र होने से, "क्रिया स्थिति और प्रकाश" शील तप धारा को ही संयुक्त हो सकती है। 'ओ३म् का जो तृतीय पाद है वह स्नेह जल (ज्ञानधारा) को बहाने वाले तथा तेजोमय "तप" क्रिया शक्ति को प्रकृति में आधान करने वाले, अभिद्ध-देदीप्यमान ब्रह्म का यही सृष्टि सन्मुखी रूप है जो रूप कि "—" 'अ' या 'नकार' संकेत द्वारा सूचित मूल ब्रह्म (चौथेपाद) द्वारा प्रभावित उसका केवल प्रतिरूप है।

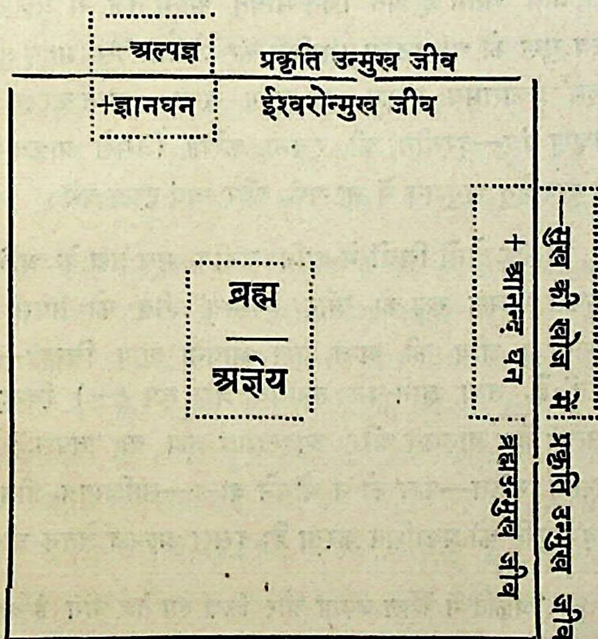
अब चित्र नं० २ पर आइये। जीव प्रकृति उन्मुख है। ज्ञान और स्नेह धारा की स्मृति ने अल्पज्ञ चेतन जीव को प्रकृति में सुख की खोज में प्रवृत्त किया। जीव पूर्व सृष्टि (वा पूर्व जन्मों) के संस्कारों को स्मरण करता है और उन्हें सुख भोग के हेतु प्रकृतितल में उदय करता है। जीव अब प्रकृति उन्मुख

* देखो ओ३म् के व्याख्यान को, पृ० १-३

वासनामय बना है। अपने अन्तः तल में यदि देखता तो ज्ञान-घन और आनन्द—घन रूप ब्रह्म-प्रभाव को देख लेता । परन्तु प्रकृति में जीव अल्पज्ञ चेतन मात्र "—" ऋण चिन्ह से प्रकट किया गया है, मानो वह प्राकृत पदार्थों को जानना चाहता है कि वे सुखमय या दुःखमय कैसे हैं। अल्पज्ञ में ज्ञान की कमी को

चित्र नं० २

जीवन की ब्रह्मोन्मुख वा प्रकृति उन्मुख गति



"—" ऋण चिन्ह से कहा जायगा। इसी प्रकार स्नेह धारा पान

करने वाला जीव जब प्रकृति उन्मुख होता है तो अपने चारों ओर प्रकृति में स्नेह की कमी × को देख कर—वह जीव, पूर्व सुख संस्कारों के अनुकूल सुख पाने की भावना उदय करता है कि मेरे पिता माता पुत्र हों, मैं मनुष्य वा पशु आदि योनियों में स्वच्छन्द सुखपूर्वक विहार करूँ। यह अन्तः सुख भावना सुख प्राप्ति हेतु जीव को प्रकृति में प्रवृत्त करावेगी। यह हमने (—) चिन्ह से सुख की कमी प्रगट करने हेतु चित्र में दिखाई है।

जीव चेतन है अंतः चित्-संवित् आत्म तेज से प्रकृति के सत्व गुण को आकृष्ट वा प्रभावित् करके जीव, उस (महत् तत्व)—सूक्ष्म प्रकाशमय प्राकृत सत्वगुण द्वारा, अन्तःकरण (दूर-वीक्षण यंत्र—दूरबीन) की रचना करेगा जिससे प्राकृत भोगों को सुख हेतु अनुभव में ला सके, और स्वयं द्रष्टा बने।

उपरोक्त दोनों चित्रों में अनिर्वचनीय मूल ब्रह्म के अभितप्त (प्रकट) ब्रह्म रूप को और चिन्मय जीव को तपसः कहा जायगा। जीव की अन्तः सुख भावना ऋण चिन्ह "—" युत 'ऋतं' है, तथा ज्ञान-घन तपोमय ब्रह्म रूप (+) चिन्ह युत "सत्य" है। ज्ञानमय और आदन्दमय ब्रह्म वह "तपसः" है जो वासना रहित—फल को न भोगने वाला—साक्षिमात्र, जीव और जड़ प्रकृति को प्रकाशित करता है; दूसरा अल्पज्ञ चेतन जीव वह

× प्रकृति में केवल जड़ता और क्रिया रूप तेज धारा है वहां स्नेह धारा नहीं। निष्क्रिय जीव में केवल स्नेह धारा है वहां क्रिया नहीं।

तपसः है, जो वासनायुत, फल भोगने वाला है; यह जीव भी अन्तःकरणों को अपने तप से प्रकाशित करता है। प्रकृति भी तेज से युक्त तपसा रूपिणी है क्योंकि, यह ऐश्वर्य, सुख, दुःख और दाह की प्राप्ति में हेतु है तथा स्वयं अग्नि विद्युत् आदि तेजयुक्त, अभितप्त है।

ज्ञानधारा 'वेद' को ❀ 'ऋतं' इस हेतु कहते हैं कि यह ही, ईश्वर जीव प्रकृति, जो स्वयं सत्य (+) हैं, उनका व्याख्यान करती हुई उपासक को इनके स्वरूप की उपलब्धि कराती है।

यह वेद ज्ञान स्वयं सत्य (+) भी है क्योंकि ऋत स्वरूप (—) अल्पज्ञ जीव इसे प्राप्त करता है। यहां सर्वज्ञ ब्रह्म ही तपसः है जो ज्ञानमय तप से ज्ञान–धारा का प्रवाह करता है।

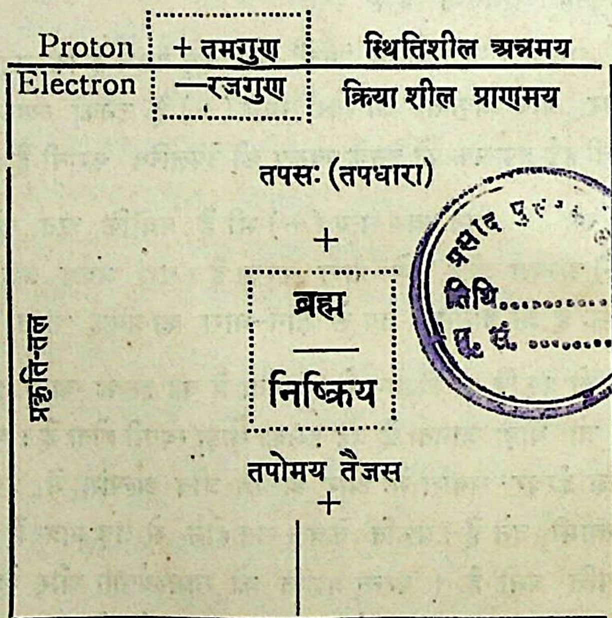
जो प्रकृति को विज्ञान से जानता है वह इसका स्वामी होता है, जो थोड़ा जानता है वह इसका थोड़ा स्वामी होता है। अतः सर्वज्ञ ईश्वर सर्वांश में, और अल्पज्ञ जीव अल्पांश में, प्रकृति के स्वामी बने हैं। प्रकृति केवल सत् होने से जड़ मात्र है यह सम्पत्ति बनी है। परन्तु प्रकृति को सामर्थ्यवान् और ऐश्वर्य स्वरूप बनाने में, तथा इसे यथावत् रूप देने में, जीव मुख्य कारण नहीं केवल आंशिक रूप से गौण कारण है। ईश्वर ही निज तपः प्रभाव से स्वतः व्याप्त होकर, तथा जीव द्वारा व्याप्त

❀ देखो पृ० ३६ तथा उ० को० ३-८६, आत्मानं प्राप्नोति इति ऋतं।

होकर, प्रकृति को त्रिगुणात्मक विकृति बनाता है। किस प्रकार से पुरुष प्रकृति का संयोग होता है यह अगले चित्रों में देखें।

चित्र नं० ३

ब्रह्म-प्रकृति समन्वय



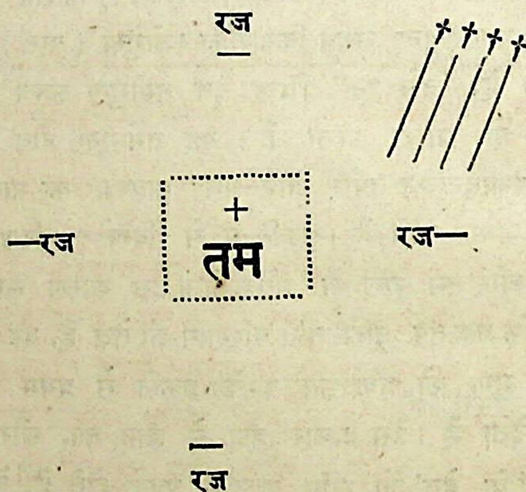
सत्वगुण + प्रकाशमय

व्याप्त ईश्वरीय तेज के प्रभाव का सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्य अवस्था वाली प्रकृति में आधान होने से गुणों की साम्यता जाती रहती है और तीन गुण

पृथक् २ होकर निज २ कार्य को सम्पादित करते हैं। सत्व गुण प्रकाश को, रजोगुण क्रिया को, तमोगुण स्थिति को प्रकट करता है। तपोमय ब्रह्म का तैजस प्रभाव अपने धरातल भेद से (Potential difference) से जब साम्य प्रकृति में विस्फोट (Bombardment & Explosion) करता है, तो वह (—) ऋण चिन्ह संयुत क्रियाशील रजोगुण (ऋतं) को प्रकट करता है, जिसे "+" चिन्ह युत तमोगुण साम्य प्रकृति से पृथक हो, धारण करता है। यह तमोगुण जीव में उत्पन्न हुए "आनन्दघन और ज्ञान-घन" अवस्था का मानो प्रकृति में रूपान्तर मात्र है। प्रकृति में से विस्फोट परिणाम स्वरूप, रज और तम गुण का प्रथक होना इस कारण सम्भव होता है, कि ब्रह्म-तप द्वारा, तप्त परिणाम जो तेज है, वह प्रकृति के सत्व गुण को प्रकाशित करके प्रकृति से प्रथम ही पृथक् कर देता है। इस प्रकार ब्रह्म से ज्ञान, तप, और आनन्द, 'जीवों के हेतु' जो सृष्टि काल में प्रकट होते हैं, वे ही मानो प्रकृति में प्रकाश शील सत्व गुण, क्रिया शील रजोगुण, तथा स्थिति शील तमोगुण 'अन्न' को, पृथक २ करते हैं इनका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है कि—

तम गुण स्थिति शील अन्न—धारक है, केन्द्रस्थ रजगुण काग़ज के धरातल में तमो गुण के चारों ओर गतिशील है तथा सत्व गुण जो प्रकाश शील है, वह इस काग़ज के धरा-

तल को ऊपर से नीचे व्याप्त करता हुआ (चित्र नं० ४) सूक्ष्म होने के कारण प्रकाशकिरण की भाँति है।



चित्र नं० ४

क्योंकि प्रकृति जड़ है इसमें बुद्धि वा चेतना का अभाव है अतः इस सत्वगुण को चेतन पक्ष में ऋण चिन्ह से '—' कहा जायगा। जीव चेतन परन्तु अल्पज्ञ है, अतः चेतन पक्ष में '+' कहा जायगा। जीव प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने हेतु वा निज अल्पज्ञता को दूर करने हेतु, प्रकृति तल से प्रकाश किरण की सहायता लेगा, ताकि प्रकृति तल में रज व तम, अर्थात् प्राण और अन्न को देख सके। यह चेतन और जड़ का संयोग

बना, अर्थात्—सत्वगुण चेतनाहीन प्रकृति+चेतन ज्ञान हीन जीव, दोनों एक दूसरे की कमी को पूरा करने हेतु आकृष्ट हुए (चित्र नं० ५) और बुद्धि तत्व और चेतन का संयोग हुआ। 'मन, बुद्धि चित्त अहंकार' रूप अन्तःकरण की, प्रकृति को देखने योग्य

चित्र नं० ५ (जीव+बुद्धि संयोग)

जीव			महतत्व (प्रकृति)
चेतन	+	——+ +——	—चेतना रहित
अल्पज्ञ	—	——+ +——	+ सत्वगुण प्रकाश

"+ और —" का आकर्षण

दूरबीन बन गई। इसमें अन्य रज व तम गुण भी मात्रा भेद से जीवों की आवश्यकता भेद के अनुसार संयुक्त हुए। फलतः भिन्न २ अन्तःकरणों (चित्र नं० ६) की प्रत्येक जीव ने रचना की।

चित्र नं० ६ अन्तःकरण चतुष्टय का निर्माण

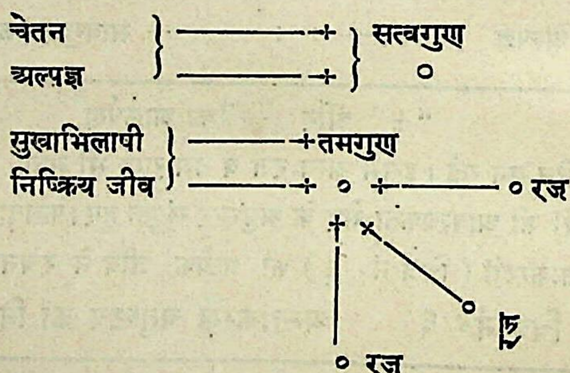
(१) चेतन जीव	+ —	जड़ प्रकृति
(२) अल्पज्ञ जीव	— +	प्रकाश सत्वगुण (बुद्धितत्व)
(३) सुखखोज में जीव	— +	तमगुण (भोग)
(४) जीव की निष्क्रियता	— +	प्राण, रजगुण, क्रियाशील,

यह अन्तःकरण ईश्वरीय आनन्द रूप "+" चिन्ह

वाले पदार्थ की खोज में अन्तः सुख भावना से प्रभावित सुख और आनन्द पक्ष में कमी दिखाने वाले ऋण चिन्ह युत "—" हैं अर्थात् ऋतं है। (चित्र नं० ७) इसका साधारण भाषा में यह अर्थ हुआ कि 'वासना'=सुख की प्राप्ति की अभिलाषा है अतः यह जीव अन्तःकरण द्वारा प्रकृति में सुख खोजता है।

चित्र नं० ७

जीव और अन्तःकरण के परमाणु



अब यह ऋण "—" चिन्ह युत अहंकार चतुष्टय के अणु 'तम गुण' विशिष्ट प्राकृत तत्व को आकृष्ट करते हैं। तम गुण रूप आधार, अन्न (सुख) है जो ईश्वरीय आनन्द की निकृष्ट (imitation) नक़ल प्रकृति क्षेत्र में है, परन्तु यह अमर आनन्द रहित है, क्योंकि तमगुण-अन्न तो प्राकृत प्राण (रज-गुण) द्वारा भक्ष्यमान है। फिर जीव का वह भक्ष्य नहीं रहा, तमगुण का

भोक्ता प्राण पहिले से उस तम को घेरे हुए है। अतः अन्त सुख भावना प्रकृति क्षेत्र में ईश्वरीय आनन्द की भारी कमी को प्रकट करती है वह इस नक़ली तमगुण से सन्तुष्ट, आत्मक्षेत्र में तो हो नहीं सकती। इस तमोगुण का भोग प्रकृति का रजोगुण (प्राण) निरन्तर कर रहा है, और वह रजोगुण (प्राण) अन्न को निरन्तर खा रहा है। जीव इस हेतु प्रकृति में आनन्द नहीं पाता कि वह तो आत्म तल का रहने वाला है, परन्तु वह रजोगुण प्राण और तमोगुण अन्न का (प्रजापति–मृत्यु रूप) कार्य निरन्तर देख सकता है, वह देखना है सत्व गुण की सहायता से। इस विचार से पता चलता है कि निरन्तर कर्म करके अर्थात् फल में आसक्ति न रखने, यानी रज व तमगुण को मन द्वारा त्यागने का क्यों श्रुति उपदेश करती है। केवल सत्वगुण युत अन्तःकरण के, जीव द्वारा आकृष्ट रहने से जीव प्रकृति का द्रष्टा मात्र रहा आता है। रजोगुण भी यदि आकृष्ट हो तो वह अपने को कर्त्ता * देखता है। तम आकृष्ट होने पर अपने को भोग में विद्ध मृत प्राय, शरीर द्वारा भोग्य वन कर विनष्ट होता है। रजोगुण-तम को पाकर जब अपनी वेग क्रिया का उपयोग और उपभोग करके साम्यता को प्राप्त करता है, तब सत्व गुण प्रधान मन शेष रह जाता है।

भोग रूप, अन्न मय, तमोगुण–केन्द्रस्थ ध्येय वनता है; यह 'सत्यं' है '+' चिन्ह वाला है। सचमुच ही प्राणी प्रकृति में

---

* अहंकार कर्त्ता न पुरुषः, सा० ६-५४।

इससे, इस अन्न से निरन्तर आकृष्ट हैं। प्राण—रजोगुण ही ऋतं है।

मन-प्राण की उत्पत्ति

हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार जड़ चेतन संयोग से, अर्थात् चेतना हीन प्रकृति और जीव की चेतनता के संयोग से, प्राकृतिक खोज में तत्पर बुद्धि, मन आदि अन्तःकरण बनते हैं। जीव चेतन होकर जड़ प्रकृति को तथा अल्पज्ञ होकर सत्वगुण को जब सुख प्राप्ति के हेतु आकृष्ट कर सत्व प्रधान मन आदि की सृष्टि करता है, तो सत्वगुण जिनमें व्याप्त है वह रज, तम भी मन के क्षेत्र में आये हुये समझना चाहियें, जैसा चित्र नं० ६ में दिखाया है। रज गुण ही प्राण रूप है। यह जीव को मन सहित प्राप्त हुआ जानना जाहिये। तमगुण भी प्राणमय रजो गुण के केन्द्र में आधार है, अतः इस तमगुण के संयोग प्रभाव से जीव को मन और प्राण सहित, स्थिति शील होकर, प्रकृति देश में ठहर गया जानना चाहिये। परन्तु जीव का संयोग उपादान रूप से और स्वरूप से प्रकृति के साथ नहीं हो सकता, क्योंकि जीव का निज आत्मतल प्रकृतितल नहीं है। यह प्राण ही है जो जीवों के सहचार में प्राकृत भोग को प्रकृति में से जीवों के अन्तःकरण की ओर लेजाता है। सुख की खोज व ज्ञान की प्राप्ति जीव का उद्देश्य है अतः इन 'मन बुद्धि' आदि की गति प्राकृत विषयों की ओर अवश्यम्भावी है। इधर गति हेतु, रजोगुण प्रकृति से आना आवश्यक है। इस प्रकार

सत्वगुण के साथ २ रजोगुण विशेष मात्रा में और आंशिक तमोगुण को लेकर प्राण की रचना होती है। दृष्टान्त के लिये रक्त भाग में (गर्मी) प्राण इन तीनों गुणों को साथ लिये हुए है, रक्त में भस्मीभूत अन्नभाग 'तम', जो गर्मी उसे लाल चमकीला रंग देती है वह सत्व, जो गति प्राण वायु के मिलने से आई है वह रजोगुण है।

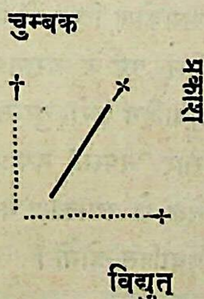
यह प्राण जब तक मन आदि के सात्विक प्रधान परमाणुओं से संयुक्त न हो, मन आदि शिथिल (क्रियाहीन) हो जावेंगे। परन्तु इस प्राण को मन से संयुक्त बनाये रखने के हेतु यह आवश्यक है कि तमोगुण को अर्थात् अन्न को, प्राण के क्षेत्र में रखा जावे। प्राण, तम से आकृष्ट होकर उसके चारों ओर गति करेगा, और तब वह गति शील प्राण तम केन्द्र द्वारा बन्ध जावेगा। इस हेतु जहां 'मन बुद्धि चित्त अहंकार' प्राण से संयुक्त "—" ऋण चिन्ह युत ऋतं कहे जावेंगे, तो इनके विषय सूक्ष्म पंचभूत, भोग, ध्येय, ऐश्वर्य, और अन्न को हम धन '+' चिन्ह द्वारा 'सत्य' कहेंगे। क्योंकि ऋणात्मक 'ऋतं' सदा ही वे पदार्थ हैं जो धनात्मक 'सत्यं' के चारों ओर गति करें। 'भोग प्राप्ति' उद्देश्य और गन्तव्य हैं अतः 'सत्यं' है मन, बुद्धि, प्राण यह 'ऋतं' अर्थात् गतिकर्त्ता हैं। + चिन्ह से स्वभावतः बहुतायत '—' चिन्ह से कमी द्योतित होती है अतः इन दोनों का एक दूसरे के प्रति आकर्षण स्वाभाविक हुआ:—सत्यं ही आधार बना है ऋतं ही आश्रय परायण है।

भौतिक अणुरचना

अब प्रकृति के उस भाग में आइये जहां जीव का समावेश नहीं हुआ अर्थात् मानसिक क्षेत्र को छोड़ शुद्ध भौतिक क्षेत्र में आइये।

ईश्वरीय तपः तेज इस सम अवस्थावाली प्रकृति में सत्व गुण रूपी प्रकाश को उत्पन्न करता है, वह तेज ही रजोगुण रूप से आणविक शक्ति और विद्युत शक्ति के क्षेत्र को साम्य प्रकृति में उत्पन्न करता है; और तमोगुण रूप से प्राकृत सूक्ष्म भार मय परमाणु की भी वह ईश्वरीय तपः तेज ही रचना करता है। अणु को लीजिये इसमें दो परमाणु हैं एक तमगुण प्रधान स्थिति शील + चिन्ह वाला विद्युत् भार जिसे proton कहते हैं, दूसरा गति शील — चिन्ह वाला जिसे electron कहते हैं। दोनों के बीच में विद्युत क्षेत्र व्याप्त है जो पहिले स्थिति शील केन्द्रस्थ परमाणु का दूसरे गति शील विद्युत परमाणु को आश्रय परायण बनाये है। यह विद्युत क्षेत्र सत्वगुण (विद्युत् तेज) से व्याप्त है। इन दोनों परमाणुओं को पृथक् करें:— वाह्य बल (विद्युत आघात) से विस्फोट द्वारा पृथक् २ करें, तो सत्व गुण रूप विद्युत् तेज लहरों के रूप में प्रवाहित होगा। यदि इन पृथक् '+' और '—' परमाणुओं को मिलने दें तो भी व्याप्त विद्युत, सत्व गुण रूप, प्रकाशित चिनगारी के रूप में प्रकट हो जायगा।

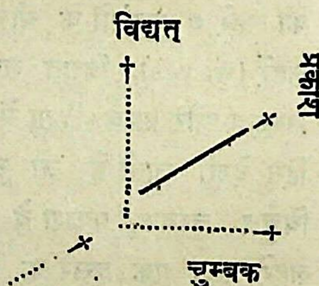
अतः शुद्ध भौतिक संसार की सृष्टि में हमने देखा कि — सत्व गुण अर्थात् प्रकाशमान तथा रजगुण क्रियाशील और तमगुण केन्द्रस्थ भार, ये तीन प्रकृति के गुण हैं। केन्द्रस्थ तमगुण (अन्न भाग) को ही 'सत्यं' अर्थात् विद्युत का केन्द्रीय स्थिर परमाणु (Proton,) कहते हैं जिसके चारों ओर गतिवान "ऋतं" रजोगुण को ही विद्युत् का गतिशील परमाणु (Electron) कहते हैं। तथाच इनके सङ्घात और वियोग से जो तेज की लहरें प्रवाहित होती है वे ही 'तपसः' सत्वगुणयुत प्रकाश गुण वाली (X ray) इत्यादि किरणें हैं। इसी प्रकार गुणों के संयोग से विद्युत् की लहरों के अनुकूल चुम्बक शक्ति की लहरें * ध्रुवांशों के वीच प्रवाहित होती हैं। प्रकाश की लहरें (waves), विद्युत लहर और चुम्बक लहर के क्रमशः सम्मुख और पार्श्व दिशा में गति करने से, ऐसी दिशा में प्रवाहित देखी जाती है जो ऊपर नीचे की दिशा है, अर्थात्- विद्युत्, चुम्बक, प्रकाश ये तीनों लहरें सदा एक दूसरे वा तीसरे से समकोण बनाती हुई दिशाओं में प्रवाहित होती है। जब विद्युत् '+' और '—' अणुओं में सङ्घात वा वियोग होता है तो विद्युत् तेज



*ध्रुवांश—magnetic poles.

ही मानों स्थूलतर बन कर चिनगारी वा प्रकाश किरण के रूप में, आगे बढ़ता है। इस विद्युत्, चुम्बक और प्रकाश किरण के समीकरण में विद्युत् और चुम्बक परस्पर 'ऋतं और सत्यं' वा 'सत्यं और ऋतं' बन जाते हैं और प्रकाश किरण "तपसः" है।

यदि विद्युत् को केन्द्र में पैदा करना है तो ❀ ध्रुवांशों के बीच केन्द्र में गोल तार को "ऋतं" रूप घुमाया जावे, केन्द्रस्थ तार में विद्युत् मानो 'सत्यं' प्रकट होगा। इसी प्रकार चुम्बक शक्ति को लोहे के पदार्थ में पैदा करना हो तो लोह पदार्थ को केन्द्र में रख कर विद्युत को 'ऋतं' रूप लोहे के चारों ओर तार में प्रवाहित किया जावे। यदि पार्थिव तेज प्रकाश किरण पैदा करना है तो सूक्ष्म तेज को–अर्थात् विद्युत् और चुम्बक धाराओं को एक दूसरे से समकोण बनाते हुए 'ऋतं और सत्यं' रूप प्रवाहित करो, अर्थात् समकोण दिशाओं में इन दोनों को इस पृष्ठ के धरातल में साथ साथ प्रवाहित करो, तुरन्त चित्र के अनुसार 'तपसः' रूप प्रकाश किरण, इन विद्युत् और चुम्बक के धरातल से समकोण बनाते हुए, कागज़ पर ऊपर नीचे लम्ब रूप प्रवाहित होगी।



❀ Magnetic poles.

इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को उलट कर भी देख सकते हैं कि, यदि प्रकाश किरणके तपसः रूप को कागज पर ऊपर से गिरते हुए आने दिया जावे तो कागज़ के धरातल में समकोण दिशाओं में विद्युत धारा तथा चुम्बक धारा प्रवाहित होंगी। हम यह लिख आये हैं कि यदि विद्युत् को स्थिर 'सत्यंरूप' केन्द्र में उत्पन्न करना हो तो चुम्बक धारा को केन्द्र के चारों ओर घुमाना पड़ेगा अर्थात् उसे 'ऋतं' बनाना पड़ेगा तदनुसार ही यदि चुम्बक को केन्द्र में स्थिर 'सत्यं' रूप उदय करना हो तो विद्युत् धारा को केन्द्र के चारों ओर प्रवाहित करना पड़ेगा। इस प्रकार ऋतं और सत्यं रूप पदार्थ क्रमशः 'सत्यं और ऋतं' बन जाते हैं (इसी हेतु ऋतं और सत्यं दोनों ही निघण्टु में उदक (जल-प्रवाहित पदार्थ) के नामों में पठित हैं)। यह भी स्पष्ट है कि तेज की लहरें जैसे विद्युत् और चुम्बक की लहरों से सम्बन्धित हैं, इसी प्रकार "तपसः" का इन ऋतं और सत्यं से वैज्ञानिक सम्बन्ध है। इन सत्व, रज, तम गुणों से, जो प्रकाश (तपसः), क्रिया (ऋतं), और स्थिति शील (सत्यं) पदार्थों के वाचक हैं, सूक्ष्म सत्वगुण को विशेष मात्रा में लेकर, मन बुद्धि तथा प्राण आदि, तेजोमय, सत्व प्रधान, आध्यात्मिक पदार्थ बनते हैं; एवं इन से प्रभावित एक ओर इन्द्रिय तथा दूसरी ओर इनके दृष्टव्य, सात्विक, राजसी, व तामसी पदार्थ, सूक्ष्म पृथ्वी जल आदि बनते हैं। गतिशील (ज्ञान गमन प्राप्ति में साधक) इन्द्रिय मन प्राण आदि "ऋतं" हैं, तथा भोग्य भौतिक विषय, पृथ्वी जल

आदि "सत्यं" हैं; तथाच (ज्ञान) तथा मनोमय, इन्द्रिय तेज, व प्राण शक्ति, तथा भौतिक प्रकाश, विद्युत् तेज इत्यादि, तपसः कहे जावेंगे, जो इन भोगों (सत्यं) को मन और इन्द्रिय (अर्थात् ऋतं आदि) के प्रति प्राप्त कराने में हेतु हैं।

मूल ब्रह्म से ज्ञान, जो जीव और प्रकृति, तथा सृष्टि और प्रलय से सम्बद्ध था, अन्तः उदय होकर प्रकट हुआ है, जिसका उद्देश्य जीवों के प्रति स्नेह रूप जल का बहाना है। अभितप्त ब्रह्म से तपसः अर्थात् ज्ञान और तेज तथा ऋतं और सत्यं रूप नाना गतिशील आश्रय परायण पदार्थ, और स्थिर आधार रूप अन्नमय भोग, उत्पन्न हो रहे हैं। ये सब उसी मूल ब्रह्म के आश्रित हैं। सुख दुःख ऐश्वर्य की देने वाली (रात्रिः) सृष्टि, इन 'ऋतं' और 'सत्यं' और 'तपसः' रूप (प्रारम्भिक तथा अनन्तर सृष्टि रचना में) नाना अर्थ वाले पदार्थों की उत्पत्ति से सम्भव हुई है। इधर जहाँ सृष्टि में विशिष्ट पदार्थों की उत्पत्ति हो रही है तो महद् आकाश (Ether) गति का स्थान बन रहा है। इस प्रकार क्रमशः (सम्वत्सर) ※ प्राणशक्ति, काल—दिशा (Directional Space) और ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुए।

इन काल दिशा का सम्बन्ध सभी से है; ब्रह्मांड में सभी सृष्टि के पदार्थ समाये हुए हैं। परमात्मा ही इस सृष्टि और प्रलय के क्रम को धारण करता है। वही प्राण और मन रूप

※ प्राणो वै संवत्सरः तां० । ५ । १० । ३ ।

आध्यात्मिक जगत को, वा प्राण और रयि रूप जोड़े को, अनेक रूप में तपः—तेज से उत्पन्न व धारण करता है। इधर द्युलोक स्थित ग्रह उपग्रह इन्द्रियें, सूक्ष्म पञ्च महाभूत और समस्त दिव्य शक्तियें, तथा पृथ्वी और स्थूल आकाश वही परमात्मा बनाता है, तब कहीं उसी ब्रह्म द्वारा जीवों के (स्वः) कल्याण हेतु सृष्टि रचना होती है, और वे जीव अन्तः सुख भावना से प्रेरित (स्वः) निज कल्पना अनुसार इस सृष्टि में (स्वः) सुख दुःख का विस्तार प्रतीत करते हैं।

इस सृष्टि विज्ञान से स्पष्ट हमने देखा कि हमारी अन्तः सुख भावना, उसी ब्रह्म की स्नेह-धारा पान की अनुस्मृति से उदय हुई है। उसी सुख को—हम ब्रह्म से व्याप्त व प्रभावित, ज्ञान, स्नेह, और तप धाराओं में खोजते हैं। सत्व, रज, और तम गुण ही (तपसः ऋतं और सत्यं रूप से) सारे विश्व के बनने विगड़ने में उपादान हैं। यह बनना बिगड़ना विश्व का, हमारे प्रति ज्ञान द्वारा, उसी ब्रह्म की विभूतियों का दर्शन कराता है। आज हम विश्व की रचना क्रम जान लेने पर इस योग्य हुए हैं कि उत्पत्ति और विनाश (अघ) के रहस्य * को समझ कर अमर शक्तियों की खोज और प्राप्ति में लगें। आओ

* गीता में यही भाव "कं घातयति हन्ति कम्" तथा, 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कह कर प्रकट किया गया है। सच है केवल 'प्राण और अन्न' ही भोक्ता और भोग्य बने हैं—जीव, ब्रह्म और मूल प्रकृति अमर (Indestructible) हैं।

विश्व की भिन्न २ दिशाओं में मनसा परिक्रमा मन्त्रों द्वारा खोज करें, कि किस २ दिशा में किस "तपसः" तेज का आधिपत्य है, उन दिशाओं में कौन (सत्यं) रूप स्थिर 'अन्न' पदार्थ हैं, जो सृष्टि-क्रियाओं के 'रक्षक' बन कर सृष्टि को धारण करते हैं, तथा कौन 'ऋतं' रूप पदार्थ (इषु) उस दिशा में उपलब्ध हैं।

मन्त्र (८)

मनसा परिक्रमा मन्त्र (१)

ओ३म् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽदित्या इषवः। तेभ्योनमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योअस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १

ओ३म्। प्राचीदिक्। अग्निः। अधिपतिः। असितः। रक्षिता आदित्याः। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः॥

शब्दार्थः—

प्राची दिशा है। अग्नि अधिपति है। असित (प्रकाशहीन पदार्थ) रक्षिता है। आदित्य इषु हैं। उस प्राची दिशा के रहस्य को हम जानें। अग्नि जो उस दिशा का अधिपति, है उसके गुणों

को हम जानें। असित जो अग्नि का रक्षक है उसकी महत्ता को हम जानें। आदित्य जो इषु हैं उनकी महत्ता जान कर हम उन्हें अनुभव प्रयोग में लावें। इन सब — अर्थात् अधिपति, रक्षक, तथा इषुवर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा सामूहिक और पृथक् पृथक्—लक्षण, परिणाम, तथा प्रयोगों की दिव्यता के आगे हमारा शिर झुक जावे। जो हम में पारस्परिक द्वेष आदि वर्त्त रहे हैं—उन्हें हम उपरोक्त पदार्थों के दिव्य ज्ञान द्वारा दूर करें। इति ॥

भावार्थ तथा वैज्ञानिक विवेचन

आधिदैविक पक्ष में:—

"अग्निः अधिपतिः असितः रक्षिता"

पूर्व दिशा में सूर्योदय के साथ साथ, अग्नि का साम्राज्य प्रारम्भ होता है। इस अग्नि को स्वभावतः, समय पाकर, बुझ जाना चाहिए जब तक कि, ईंधन बराबर अग्नि में पड़ कर उसे प्रज्वलित न करता रहे। सूर्य का भी विशेष भाग "असित"* काले पदार्थ (कोयले के समान)—ईंधन का बना हुआ है। यह काला पदार्थ, जिसका प्रमाण सूर्य में, दूर-वीक्षण यन्त्र (Telescope) द्वारा प्रत्यक्ष मिलता है—सूर्य में काले धब्बे (Sun

---

*उ० को० (३—८९) सिनोति—बध्नाति इति सितम्—शुक्लंवा—तदेवं असितं—अशुक्लं—कृष्णंवा। अग्निः वा असितग्रीवः, श० १३—२—७—२।

Spots) करके प्रसिद्ध है। यह काला पदार्थ (सित) सूर्य की श्वेत रश्मियों से भिन्न है। श्वेत किरणें—सूर्य की रंगीन सप्त किरणों की सामूहिक रूप हैं। प्रकाशहीन काला पदार्थ—केन्द्रीय अन्न रूप वह विद्युत्-भाग है जिसमें अभी गतिशील विद्युत् परमाणुओं का संयोग नहीं हुआ। केन्द्रीय काला विद्युत् भाग, अपने चारों ओर गतिशील विद्युत् परमाणुओं को, अर्थात् प्राण को जब वाह्य वायुमण्डल से--स्वयं अन्न रूप हो कर—आकर्षित करता है, तब सूर्य-मण्डलाकार अणुओं ❀ (atoms) की रचना होती है। यह अणु (atoms) केन्द्रीय विद्युत् भाग (+Proton) की अपेक्षा महत् आकार वाला होता है। फिर अणु स्वयं आकार में अति छोटा होता है। और केन्द्रीय विद्युत् भाग (Proton) अणु (atom) की अपेक्षा उतना ही छोटा है जितना कि सूर्य मण्डल की अपेक्षा हमारी पृथ्वी। इसी भांति गति शील इलेक्ट्रन की परिधि के भीतर का सारा स्थान, हाइड्रोजन (आर्द्रजन) गैस के अणु में निहित है, यद्यपि उसकी अपेक्षा केन्द्रीय विद्युत् भाग (proton) अति सूक्ष्म है।

अणु (atom) का भार केन्द्रीय विद्युत् भाग (Proton) के भार के बराबर ही सा है और गतिशील विद्युत् परमाणु लगभग भार रहित—केन्द्रीय विद्युत् भाग की अपेक्षा और भी अधिक सूक्ष्म है। इन केन्द्रीय तथा गतिशील परमाणुओं की,

---

❀ऋ० मं० १ सू० ५—मं १,२,३,५,६ जिनमें अणु तथा विद्युत् परमाणुओं का विस्तृत वर्णन है।

संख्या तथा गति क्रम के भिन्न २ होने से भिन्न २ पार्थिव आदि तत्वों की रचना होती है।

अतः सिद्ध है कि सृष्टि कणों* (Matter) की रचना के आधार, यह भार युत केन्द्रीय विद्युत् परमाणु हैं जो स्वयं अन्न बन कर—गतिशील परमाणुओं को 'प्राण' रूप आकृष्ट कर अनन्त अग्नि को प्रकट करते रहते हैं। यह केन्द्रीय विद्युत् भागांश (+ Positive Electrical mass), पार्थिव कणों की अपेक्षा अत्यन्त छोटे होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सूर्य के भीतर ठस ठस कर—अग्नि के स्रोत, यह केन्द्रीय विद्युत् परमाणु—अनन्त अग्नि को उत्पन्न ‡ करने की सामर्थ्य रखते हैं। मानों सूर्य के भीतर अग्नि उत्पन्न करने वाला ईंधन सुरक्षित है। सूर्य के धरातल पर—केन्द्रीय ईंधन द्वारा—आकृष्ट हो कर–वायुमण्डल से—चिनगारी वा प्राण रूप से, जैसे २ गतिशील विद्युत् परमाणु संयुक्त होते जावेंगे वैसे ही वह केन्द्रीय भाग खर्च होकर अग्नि को प्रकट करता रहेगा। और वह अग्नि

---

*परमाणुओं के संघात से अणु (atom), और अणुओं के संघात से त्रसरेणु (molecules) और त्रसरेणुओं के संघात से कण (Particles of matter) बनते हैं। परमाणु, विज्ञान की परिभाषा में, (Proton) प्रोटन व (Electron) इलेक्ट्रन नाम से प्रसिद्ध हैं।

‡ ऋ० मं १, सू० ५, मं० ५, 'सुतपाव्ने सुता इमें शुचयो यन्ति वीतये' यह दीप्तिमान गतिशील परमाणु केन्द्रस्थ विद्युत भाग के आश्रय में (आकर्षण शक्ति) के उपभोग हेतु गति करते हैं।

रसों को सुखा कर और पका कर पञ्च महाभूत पृथ्वी जल आदि पदार्थों के सूक्ष्म कणों की रचना करेगी। सूर्य की, आगे उत्पन्न होने वाली अग्नि को, सुरक्षित रखने को यह अद्भुत (असित—काला) ईंधन है।

"आदित्या इषवः"

अग्नि प्रकट होने के साथसाथ ही वायव्य परमाणु—जिनसे गतिशील विद्युत परमाणु झटक कर केन्द्रीय विद्युत भाग की ओर खिंचकर पृथक होगये हैं—शीघ्र शीघ्र कम्पने तथा हिलने लगते हैं। यह कम्पन गति ही उन परमाणुओं को गरम करती तथा किरण (आदित्याः) ❀ रूप से आकाश में फैलती हुई भिन्न भिन्न रङ्ग वाली सात किरणों को जन्म देती है। यह सात रङ्ग—लाल, नारङ्गी पीला, हरा, नीला, गहरा नीला, बैंगनी—हैं। भिन्न भिन्न कम्पन की संख्या-प्रति सैकन्ड भिन्न भिन्न होने से—भिन्न भिन्न रङ्ग वाली किरण लहराती हुई, आकाश में फैलती हुई हम तक आती हैं। यही आदित्य ‡ हैं जो 'इषु' रूप हम तक वा पृथ्वी आदि उपग्रहों तक पहुँचती और रसों को हमारे प्रति लाती हैं।

❀ (नि०दै० १२-४-३४-२४) सात द्यु लोकस्थ आदित्य गण हैं।

‡ नि० दै० ११-२-२०-१६ में अदिति तथा 'दक्ष, मित्र, वरुण आदि सप्त आदित्यों के प्रसङ्ग में सप्त रश्मियों का व्याख्यान देखो—जिसमें रश्मियां रसों को ग्रहण करती हैं। "रसान् आदत्ते अयम् आदित्यः" नि० नैघं० २-४-१३। एवं प्रमाण से रश्मियां ही आदित्य हैं।

इन सात किरणों का सामूहिक रूप श्वेत किरण† अर्थात् प्रकाश किरण है।

इन प्रकाश किरणों के साथ साथ गरमी की किरणें भी हम तक आती है जिन्हें ताप किरण ❀ Infra red rays—Heat waves) कहते हैं, सूर्य-मण्डलस्थ वायव्य परमाणुओं के गरम होजाने से यह उत्पन्न होती हैं और आकाश को पार करके हम तक पहुँचती हैं। इनकी कम्पन संख्या प्रति सेकंड, लाल किरणों की कम्पन संख्या (Frequency) से कम है।

ताप किरण, तथा श्वेत प्रकाश किरणों* के अतिरिक्त

---

† सप्तह वैते (आदित्याः) अविकृतंहि आष्टमं जनयांचकार मार्तण्ड" श० ३-१-३-३ ॥

सात किरणें और आठवीं अविकृत श्वेत किरण यह आठ ही सूर्य से उत्पन्न, सूर्य की किरणें आदित्य कहलाती हैं।

इसी प्रकार तां० २४-१२-५/ ६, में लिखा है।

तां० २३-१२-३ में भी "सप्त आदित्याः" स्पष्ट लिखा है।

❀ तद् विश्वक्षरत् तद् आदित्यम् अभितः अश्रयत् तद् वा एतद् यत् एतद् आदित्यस्य रोहितं रूपम्। छां० ३-१-४।

वे (आदित्य) किरणें विशेष रूप से व्याप्त होती हुई सूर्य के आश्रित हैं जो यह सूर्य का रोहित (लाल) वर्ण दिखाई देता है।

* तद्विश्वक्षरत्' 'यत् एतद् आदित्यस्य शुक्लं रूपम् (छां० ३-२-३) वह (आदित्य) किरणें व्याप्त होती हुई सूर्य के आश्रित हैं जो इस सूर्य को श्वेत रूप में दिखाती हैं। अथ यत् एतत् आदित्यस्य शुक्लम् भाः सा एव ऋक्— (छां० १-६-५) सूर्य की श्वेत किरणें ही ऋक् हैं।

अधिकतर कम्पन करती हुई प्रकाश रहित जो गहरी नीली+ अत्यन्त काली (Ultra violet rays) किरणें कहलाती हैं, ये रसायनिक क्रियाओं को उत्पन्न करने की क्षमता रखती हैं। बन्द फ़ोटो के शीशे पर अपना असर करती हैं। और फेफड़े में स्थित रोग कीटाणुओं को नष्ट कर, महाऔषधि का काम करती हैं।

इन गहरी नीली (यत् नीलं परः कृष्णं) किरणों से भी सूक्ष्मतर अन्य किरणें हमें सूर्य से प्राप्त होती हैं, जो सीसा (Lead) तथा जल की गहरी तह तक पार जाती हैं, ये कृष्ण किरणों से भी कृष्ण (परंकृष्ण) ॐ अत्यन्त प्रकाश हीन होने से बहुत काली हैं पर अभेद्य पदार्थों के भी पार जाती हैं। इन सब किरणों के गुण प्रभाव को जब हम जान लेते हैं तभी इनमें भरे ऐश्वर्य के प्रति (तेभ्योनमः) हम नत मस्तक होते हैं। नित्य प्रातः समय-उषाकाल से लेकर सूर्योदय तक सूक्ष्मतर किरणों

+ तद् विश्रक्षरत्……यत् एतत् आदित्यस्य कृष्णं रूपम्। (छां०-३-३-३)। सूर्य की काली किरणों का वर्णन है।

अथ यत् नीलं परः कृष्णं तत् साम। (छां०-३-३-३)। नीले किरण के परे कृष्णं (काली) किरणों का वर्णन है।

ॐ तत् विश्रक्षरत्…. यत् एतत् आदित्यस्य परं कृष्णं रूपं (छां० ३-४-३) इति। अत्यन्त कृष्ण किरणों का उल्लेख है।

की प्राप्ति (इषवः) ॐ हमें अधिक होती रहती है। किस प्रकार उपरोक्त सभी किरणें वृक्षादि को वृद्धिगत करतीं तथा हमारे हेतु नित नई अग्नि के आधार रूप नये ईन्धन की सृष्टि करती हैं यह जान कर तथा इनके अनन्त भौतिक, रसायनिक, तथा औषध प्रयोगों को जान कर हम इनमें अन्तर्हित महत्ता, गुण, तथा ऐश्वर्य के सामने नत मस्तक होते हैं।

अन्य विचार

इधर (प्राचीदिक्) ग्रीष्म ऋतु में अग्नि का साम्राज्य है। यह अग्नि (प्राची) सबसे प्रथम, जल को भाफ बनाकर बादल के रूप में परिणत करती है। काले काले (असित) बादलों में अग्नि सुरक्षित है तथा (आदित्याः इषवः) सूर्य की किरणें इस अग्नि को हम तक (इषु) पहुँचाती हैं। यज्ञ की अग्नि के द्वारा भी इन बादलों को हम भस्मीभूत औषधि द्रव्यों से प्रभावित करते हैं। अग्नि इन हव्य पदार्थों के सूक्ष्म परमाणुओं में, जो (असित) दिखाई नहीं देते, अन्तर्हित है। सूर्य की किरणें पुनः वर्षा द्वारा इस हव्य अन्न तथा तेज को हम तक (इषु) पहुँचाती हैं। यह जानकर हम इन यज्ञों का (नमः) श्रद्धा के साथ पालन करें। अच्छा हो यदि अग्नि, काष्ठ आदि अग्नि के उत्पादक, तथा अग्नि और तेज की प्रसारक किरणों

ॐ इषु–ईषते गतिकर्मणः। गति-ज्ञान, गमन, प्राप्ति ।

नि॰ दै॰ ६-२-१८-१४ ।

के प्रयोगों द्वारा, विभिन्न आग्नेयादि शस्त्र, वा नील किरण यन्त्रों (arclight) द्वारा, हम पृथ्वी पर रोग रहित वा शत्रु रहित हों। रोग के कीटाणुओं अथवा द्वेष भाव से प्रेरित शत्रुओं के (जम्भेदध्मः) संहार में इनका प्रयोग हो।

आध्यात्मिक पक्ष में:—

उषा काल से सूर्योदय तक जो सूक्ष्म तर किरणें प्राप्त होती हैं उनका प्रभाव यह होता है कि इन किरणों की विद्यमानता में, वायुमण्डल में, (Carbon-di-oxide) प्रश्वास वा भस्मीभूत कोयला मिश्रत गन्दी वायु से, वृक्ष स्वयं अन्न रूप में कोयला अंश खींच लेते हैं, और वची हुई तेज प्रधान (Oxygen) प्राणवायु को वायु मण्डल में छोड़ देते हैं। इधर मनुष्य-रक्त में जो अन्न भाग है वह 'असित' काले रक्त के रूप में फेफड़े में प्राप्त होता है। उस काले अन्न वा ईन्धन से युक्त रक्त से, प्रातः वायु जो, (Oxygen) प्राणवायु से भरपूर है—सम्बद्ध होती है। रक्त का अन्नभाग प्राणवायु द्वारा मानो भस्म हो रक्त में गरमी उत्पन्न करता है। इस गरमी अर्थात्-शरीरस्थ अग्नि का रक्षक वह (असित) अन्न युक्त रक्त ही है, जो प्राणवायु से सम्बद्ध हो शरीर में नव जीवन का संचार करता है। फेफड़ा इसका (प्राची) पूर्व स्थान है। यह अग्नि हमारे अङ्ग प्रत्यङ्ग में ‡ 'मित्र'—चक्षु आदि इन्द्रिय शक्ति रूप से भोगों के ग्रहण में सहायक, और प्राण रूप से, जीवन दाता, तथा शीघ्रगामी रश्मियों (वाह्य प्रकाश) द्वारा

‡ नि० दै० १०-२-२३-१३।

संसार को प्रत्यक्ष करने हारी 'वरुण'÷ रूप में, तथा शरीर को नवजीवन देने वाली 'धाता ¶ रूप में, तथा (White corpuscles) रोग कीटाणुओं से शरीर की रक्षक व मल को दूर करने वाली ❀ 'अर्यमा' रूप से, तथा च (Oxgyen) भग + रूप से मनुष्य को पोषण करती और बल प्रदान करती है। यही अग्नि अंश'❀ रूप से हमारी जीवन शक्ति को नये रक्त कणों के निर्माण द्वारा बढ़ाती है तथा 'दक्ष* वा इन्द्र' रूप से हमें प्राण वा मनोबल की प्रदाता है। सारांश यह कि "मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, भग, अंश, दक्ष वा इन्द्र" इन सात वा आठ आदित्यों के रूप में ही इस अग्नि की प्राप्ति हमें होती है अतः यह आदित्य † ही

÷ नि० दै० १२-२-११-१३।

¶ नि० दै० ११-१-६-६। धाता सर्वस्य विधाता (बहु जीविका देने वाली।

❀ नि० दै० ११-२-२०-१६। (अर्यमा आदित्यः अरीन् नियच्छति) मलनाशक।

+ नि० दै० १२-२-४। सूर्योदय से पूर्व, सूर्य शक्ति पोषण करती तथा बल देती है।

❀ नि० नैघं० २-२-५। शं० पूर्वक अशूङ् धातु से व्याप्ति अर्थ में 'उ' प्रत्यय बहुलता में। 'अथवा अननायं शं भवति,' जीवन के लिये

* नि० दै १०-१-६-४। इन्द्र=विद्युत् वा प्राणबल, दक्ष=इन्द्र।

† नि० नै० २-४-१३। आदत्ते रसान्—आदत्ते भासं ज्योतिषां—आदीप्तः भासेति वा—नि० दै० १२-४-३४-२४॥

इषुवर्ग हैं।

शरीरस्थ फेफड़े में उदय होने वाली अग्नि—उसकी उत्पत्ति, लक्षण तथा कार्यों की महत्ता को हम जानें तथा उनके द्वारा शरीर में होने वाले रोगों को दूर करें तथा इन्द्रिय शक्ति, मन, और बुद्धि के संयम और समुचित प्रयोग से हम शत्रुओं का विनाश तथा प्रेम का विस्तार करें।

आधिभौतिक पक्ष में

पृथ्वी तल पर, कोयला, तेल, वा ईन्धन से प्रायः अग्नि प्रकट होती है। यह पदार्थ, भूगर्भ से वा वृक्षों से हमें प्राप्त होते हैं। वृक्षों के जंगल पुरा काल से पृथ्वी तल में दव कर खानों में प्राप्त, कोयला और तेल के रूप में परिणत हुए हैं। इन वृक्षों का काष्ठ—वायुमण्डल स्थित कोयले की गैस से, कोयला भाग को सूर्य किरणों द्वारा पृथक कर लेने से, वृक्षों में प्राप्त हुआ है। इस प्रकार उस भौतिक अग्नि का आधार पृथ्वी तल पर 'असित' काष्ठ वा कोयला—ईन्धन है, जो स्वयं भी सूर्य के तेज का कार्य है। सूर्य के तेज का आधार सूर्य गर्भ में स्थित 'असित' काले धब्बे हैं। यह काले धब्बे, गतिशील परमाणु के (असित) * संयोग से रहित, केन्द्रीय भारयुत विद्युत् परमाणु हैं। अतः "असितो रक्षिता" अग्नि का इस पृथ्वी तल पर साम्राज्य है। "आदित्याः" सूर्य की किरणें इस अग्नि की प्राप्ति वृक्षों में

* (उ० को० ३-८९) सिनोति बध्नाति इति सितम्—अबध्नाति इति असितम्। वन्धन रहित।

रस पाक द्वारा, ईन्धन वा अन्न के रूप में कराती हैं।

अग्नि तथा जल के संयोग से विस्तृत वाष्प रूप में जल का प्रसारण (Expansion) होता है। पैट्रोल को जलाकर गैस अधिक स्थान को घेर कर बहुत आकार वाली हो जाती है।*यह वाष्प वा गैस 'आदित्याः इषवः' आदित्य रूप से ही व्याप्त तेज की, कार्य रूप में हमें प्राप्ति कराती है—अर्थात् यह वाष्प वा गैस रेल तथा मोटर के इञ्जनों को घुमाने वाले पिस्टन को धक्का देती है। अग्नि को ही वाष्प वा गैस (आदित्य) में देकर हम उसे काम्य † कर्म की सिद्धि हेतु भिन्न भिन्न स्थानों में (इषु) पहुंचाते हैं। इञ्जन और डाइनेमो से वा रसायनिक क्रिया द्वारा बैटरी से, तारों में बहती हुई विद्युत धारा+ (प्राण-तेज शक्ति) हमारे घरों में लैम्प जलाती तथा अन्य अनेक कार्य करती है। अतः पूर्व स्थानीय संसार में—उन्नति, यश, और

---

* भूमौऽएष देवानाम् यत् आदित्याः (श० ११-६-३-८) जल अग्नि आदि देवों का अधिक तम बहुलता को प्राप्त होना आदित्यों का रूप है।

† युंजंति अस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे, शोणा धृष्णू नृवाहसा। ऋ० मं० १ सू० ६ मन्त्र २। स्थिर धुरी पर घूमते हुए पहिये (Fly wheel) से दूसरी ओर पहिये में माल (belt) के सहारे गति को ले जाते हैं।

+ प्राणः वा आदित्यः। (जै० उ० ४-२-६)

बलप्राप्ति के पथ ❀ में अग्नि का साम्राज्य है। 'असित' पदार्थ, जो भस्म नहीं हुए, वा जिनकी शक्ति, कार्य रूप में परिणत, प्रयुक्त होकर, प्रकट नहीं हुई—उन कोयला, पैट्रोल, रसायनिक तेजाब, बारूद, इत्यादि पदार्थों से यह अग्नि प्रकट करो। उन 'असित्' पदार्थों को, वाष्प, गैस, घोल (Solution), विद्युत् प्रवाह आदि (आदित्यों) के रूप में परिणत प्रयुक्त करो। इन सब के लक्षणों तथा कार्यों को जान कर अपने को रोग रहित तथा शत्रु रहित करो।

वैदिक विज्ञान तथा ईश्वर पक्ष में:—

सब से पहिले सृष्टि के आरम्भ में 'अग्नि' ऋषि द्वारा ऋग्वेद का, तथा नित्य प्रति मनुष्य के हृदय में वाह्य दृष्टि के साथ साथ अन्तः विवेचन और अनुभव द्वारा, परमात्म-प्रभावित ज्ञान रूप प्रकाश वा "अग्नि" का उदय होता है। यह विज्ञान उन प्राकृतिक पदार्थों की वाह्य चमक से नहीं परन्तु प्राकृतिक चमकदार पदार्थों की "असित" अन्तर्हित ईश्वरीय शक्तियों के अनुभव, तथा प्रयोग से उत्पन्न होता है। जो मनुष्य सूर्य, चन्द्र, इन्द्र (विद्युत्) आदि के वाह्य प्रकाश से चकित हो उनकी पूजा करते रहे वे तो असभ्य जङ्गली रहे आये; जिन्होंने उनकी अन्तर्हित (असित्) दिव्य शक्तियों का तथा परमात्म-देव की विभूतियों का अनुभव किया वे रोग तथा शत्रुओं से रहित हुए; और

❀ तेजो वै ब्रह्मवर्चसं प्राची दिक्। (तै० ३-१२-६-१)

ज्ञान प्रयोग द्वारा ऐश्वर्य के भी स्वामी बने। इस पूर्वस्थानीय सृष्टि में ईश्वरीय शक्ति का सम्राज्य है निज कार्यों के सम्पादन हेतु—मार्गदर्शक वे शक्तियें ही हमारे प्रति निज गुणों का प्रकाश करती हैं। इन ईश्वरीय (दिव्य) शक्तियों की, वाह्य संसार में तथा योगी के हृदय में, केवल स्वाध्याय, निदिध्यासन, तथा संयम प्राणायाम आदि (आदित्यों) ❀ के द्वारा प्राप्ति होती है। प्राणायाम आदि आदित्य—ही 'इषु' हैं। इन सब को हम यथावत् जानकर, ज्ञान, ऐश्वर्य, और भक्ति का विस्तार करें तथा काम क्रोध आदि शत्रुओं से निज रक्षा करें। इन्द्रिय + निग्रह (ब्रह्मचर्य), प्राणायाम, उपासना (रूप आदित्य किरणों) के द्वारा हम उस 'अग्नि' परमात्मा की महत्ता को अनुभव कर नतमस्तक हों; किसी से द्वेष न करें, तथा आत्मवत् सब से प्रेम व्यवहार करें। इति।

❀ प्राणा वा आदित्याः, प्राणा हि इदं सर्वं आददते। जै० उ० ४-२६।

\+ पशवः (इन्द्रियाः) आदित्याः (तां० २३-१५-४), इन्द्रियं वै पशवः वीर्यं रसः। तां० १३-७-४।

मन्त्र ६

मनसा परिक्रमा मन्त्र २

ओ३म् दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चि राजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नमः एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ २

ओ३म्। दक्षिणा। दिक्। इन्द्रः। अधिपतिः। तिरश्चिराजी ¶। रक्षिता। पितर। ‡ इषवः। † तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः॥

शब्दार्थः—

दक्षिण दिशा है। इन्द्र अधिपति है। जो † (राजी) चमकते

¶ तिरश्चीन राजी रक्षिता। इति। मै० सं० पाठ (अथर्व० कां ३-२७-२)

‡ वसव इषव। इति। पैप्प० सं० पाठ (अथर्व० कां ३-२७-२) वसवः रश्मिनाम (नि० १-५)

† इषु—ईषते गति कर्मणः—गति करने वाले; वा बधकर्मणः—मारने वाले नोकीले बाण हमें शरण (सहारा) प्रदान करें। नि० दै० ६-२-१८-१४), "मृगः अस्यदन्तः इषवः शर्म यच्छन्तु"— वेदमन्त्र निरुक्त उद्धृत।

† राजी—राजिः—राजते, दीप्यते असौ—पंक्ति वा (उ० को०४-१-२५) (A pencil of rays) (किरण) समुदाय।

शोभायमान, पंक्ति में प्राप्त द्युलोकस्थ + (तिरश्चि) पार जाने वाले सूर्य किरण हैं वे रक्षक हैं। प्राण रूप तेज जिनमें अन्तर्हित है वा सोम रूप (अन्न) का सम्पादन करने वाले, पितर (इषु) गति करते हुए प्राप्त होते हैं। उन दिशा, अधिपति, रक्षक, तथा इषुवर्ग के प्रति नमस्कार। जो हम में रोग आदि के कीटाणु हैं उनको हम इन किरणों द्वारा विनष्ट करें।

+ तिरश्चि—तिरश्चीन; तिरः तीर्णं भवति, तिरः इति प्राप्तस्य (नि॰ नैघं॰ ३-४-२०); तीर्णं भवति असौ तिरश्चि (उ॰ का॰ ४-७०) तॄ+असुन्=प्लवन, संतरण—कूदना, तरना (धातुपाठ)।

तिरश्चीन :—असौ वा आदित्यौ देवमधु। तस्य द्यौः एव तिरश्चीनं वंशः, अन्तरिक्षम् अपूपः, मरीचयः पुत्राः। (छां॰ ३-१-१); म्रियते असौ मरीचिः, दीप्तिः। (उ॰ को॰ ४-७०); मरीचिष् रश्मिनाम। (निघंटु १—५)।

अर्थ—आदित्य-वा सूर्य (पृथ्वी, जल अग्नि—आदि देवों) का मधु है। इस सूर्य के द्यु—स्थित, (तिरश्चीन) इधर उधर आकाश के पार जाते हुए (मरीचयः) जो किरण समुदाय हैं (वंशः) वे सूर्य से ही मानो उत्पन्न हैं। यह किरणें ही सूर्य के पुत्र हैं। मधुमक्खी जैसे तिरछी टेढ़ी उड़ती हुई शहद के छत्ते में आती जाती हैं, वैसे ही सूर्य किरणें अन्तरिक्ष में आती जाती हैं। इस प्रमाण से, 'तिरश्चि राजी' का अर्थ किरण समुदाय से होगा।

मनसा परिक्रमा मन्त्र २ के शब्दार्थों पर विचार

दक्षिण दिशा—❀ जिस दिशा में दान, समृद्धि (ऐश्वर्य), उत्साह पाया जाय वह दक्षिण दिशा है। जिस ओर चलते हुए—शीघ्रता वा वृद्धि (बढ़ना) पाया जावे वह दक्षिण दिशा होगी।

इन्द्र—‡ जो रस वा जल को दे, धारण करे, फाड़ डाले, वा जो इरा नामक जल और मेघों को धारण करे वा विदीर्ण करे वह इन्द्र है। स्पष्ट सूर्य और विद्युत को इन्द्र × कहेंगे।

तिरश्चिराजी–इषु—

यह मनसा परिक्रमा मन्त्र २, अथर्व वेद कांड ३-२७ का मन्त्र है।

❀ दक्षते, वर्धते, शीघ्रकारी भवति वा, स दक्षिणः। (उ० को० २-५०)

अपूर्ण को पूर्ण करने वाली, दान, समृद्धि, उत्साह अर्थ में—
(नि० भू० १-३-६-११);

‡ इन्द्र–इरां–दृणाति–ददाति, दधाति, वा दारयत वा धारयत इति।
[नि० दै० १०-१-६(४)];

इन्द्र–एति गच्छति यया सा इरा–उदकं (जल) (उ० को० २-२८);

इन्द्रं–इन्दवे द्रवति, इन्दौ रमत, इन्धे भूतानि (नि० दै० १०-१-६);

इन्दु, इन्धेः उनत्तेः वा (नि० दै० १०-४-४०-१७); दीप्ति च क्लेदने (भिगोना या प्रकाशित होना) उ० को० १-१२;

इरा–रस, अन्न नाम (निघं० २-७) ब्रह्म, यश सुत अपि।

× बिजली की करेंट, जल को फाड़कर हाईड्रजन (अम्लजन) और ओषजन (प्राणवायु) नामक वायुओं को उत्पन्न करती है।

मैत्रेय संहिता में ' तिरश्चीन राजी' पाठ मिलता है। इस मन्त्र में जहां पितर वर्ग इषु बताये हैं वहां पैप्पलाद संहिता में "वसवः इषवः" पाठ है। निघंटु १-५ के अनुसार 'वसवः'-रश्मि-किरणों को कहते हैं। यह किरणें गतिकर्म करने वाली होने से इषु हैं— तथाच क्षुद्र जन्तुओं को मारने वाली होने से वधकर्मा इषु हैं। गति-ज्ञान, गमन, प्राप्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः दक्षिण दिशस्थ इषु वह सभी पदार्थ होंगे जो शीघ्रता, वृद्धि, देना, तथा उत्साह अर्थ में, ज्ञान, गति, वा प्राप्ति के कराने में सहायक हैं।
(नि०दै० ६-२-१८-१४)

राजी—उस पदार्थ को कहते हैं जो चमकती वा शोभावाली हो, तथा पंक्ति में हों। यदि 'तिरश्चि' वा 'तिरश्चीन' का अर्थ किरण हो तो "तिरश्चिराजी" का अर्थ 'किरण समुदाय' (Pencil of rays) होगा। अब 'तिरश्चि' शब्द के अर्थों पर ध्यान दें। अधिकांश तिर्यक् योनि के छोटे बड़े कीड़ों का, वा वायु के भँवरों का इस शब्द से अर्थ लिया गया है इसमें कोई प्रमाण व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थों का हमें नहीं मिला न जाने किस प्रकार कीट योनि और भँवर का अर्थ सिद्ध किया है। तिरः शब्द के स्पष्ट अर्थ "पार जाने वाली या प्राप्त होने वाली" निरुक्त नैघंटुक कांड (३-४-२०) में पाये जाते हैं। 'तृ' धातु कूदना-फलांगना तथा पार जाने के अर्थ में पढा है, जिससे असुन् प्रत्यय होकर तथा 'ऋत इद्धातोः' अष्टाध्यायी सूत्र से 'ई' का आगम होने से तिरस्-तिरः शब्द सिद्ध

होता है तथा उणादि कोष ४-७० के अनुगामी होकर "तीर्णं भवति असौ तिरश्चिः" अर्थात् जो (आकाश) को फलांगकर पार जाय वह तिरश्चिः,सूर्य किरण वा बादल हो सकते हैं। ‡तिरश्चि-राजी—इन किरणों वा मेघों का समुदाय ही, चमकता (राजी), वा शोभायमान पंक्ति वाला होता है। क्षुद्र कीटाणुओं का समुदाय चमकती पंक्ति बनाने वाला नहीं होता और न वायु का भँवर पंक्ति वाला होता है, न ऐसे वायु के किसी भँवर से जहाजों का मार्ग रुका है, जैसा कि कतिपय विद्वानों का तद्विषयक मत है।

सबसे अधिक प्रमाण, 'तिरश्चिराजी' का अर्थ किरण समुदाय लेने में—व्याकरण को छोड़ कर दो और मिलते हैं। पहिला यह कि पैप्पलाद संहिता में इसी मन्त्र में 'पितर इषवः' के स्थान में सामानार्थक "वसव इषवः पाठ है। 'वसवः' का स्पष्ट अर्थ निघंटु १-५ में रश्मि गिनाया है। दूसरा प्रमाण छन्दोग्य उपनिषद् (३-१-१) में जो अर्थ सहित पूर्व पृष्ट (११३) में टिप्पणी में हमने उद्धृत किया है—स्पष्ट मिलता है, जिसमें सूर्य के वंश को 'तिरश्चीन' कहा है और उस वंश के पुत्रों को

‡ पवित्र वन्तः = रश्मिवन्तः । समुद्रः सम–उद्द्रवन्ति अस्मात् रश्मयः–सूर्य वा आकाश। महः समुद्रं वरुणः तिरः अन्तर्दधाति। एषां प्रत्नैः (बादलों को) वरुणः व्रतं अभिरक्षति। इत्यादि रश्मि,मेघ, वायु, वरुण का तिरः सम्बद्ध व्याख्यान देखो। (नि० १३-३१—नि० भा० चन्द्रमणि पृ०७४८)।

मरीचि–किरण । अन्तरिक्ष को इनका निवास स्थान बताया है। भला सूर्य के पुत्र-तिर्यक योनि वाले कीट पतंग कैसे हो सकते हैं। यह विषय उपरोक्त टिप्पणी में पाठक स्वयं देखें।

खूबी यह है, कि कीट आदि 'तिर्यक् योनि' अर्थ करते हुए अन्य भाष्यकारों ने इन ६ मनसा परिक्रमा मन्त्रों के अर्थों में संगति का भी ध्यान नहीं रखा है। ६ मन्त्रों में क्रमशः "असितः रक्षिता–तिरश्चिराजी–रक्षिता–पृदाकू रक्षिता–स्वजः रक्षिता–कल्माषग्रीवो रक्षिता–श्वित्रो रक्षिता" यह छः पद आते हैं। रक्षिता शब्द सबमें समान है—फिर भी तिरश्चिराजी और पृदाकू इन दो का अर्थ कीट और सांप करके इनसे बचने का भाव 'रक्षिता' शब्द से लिया है अर्थात् कीट सर्प आदि को शत्रु माना है—शेष ४ को इन भाष्य कारों ने रक्षक माना है। भला 'रक्षिता' शब्द का अर्थ शत्रु भी लेना साथ २ रक्षक भी लेना कितना अनुचित है।

अतः 'तिरश्चिराजी' के अर्थों में "किरण समुदाय" वा "वे सभी शोभायमान दीप्तिमान पदार्थ" होंगे जो लाइन बनाकर फलांग मारकर (मृगपक्षी आदि) आते जाते हों, वा पार जाते हों। किरणें-आकाश वा शीशा इत्यादि को भी पार कर जाती हैं तथा मेघ आदि जो आकाश में संचरण करते हैं, वे भी तिरश्चिराजी है। पर मृग पक्षी आदि रक्षक नहीं होते, इनसे खेतों को बचाया जाता है।

सोम, अन्नरस से भरे हुए(हव्य पदार्थों को लिये)

तथा सोम अर्थात् अन्न वा विद्युत् का सम्पादान करने वाले जो मेघ ¶ जल हैं वे ही पितर हैं। पुत्रों का परिपालन करने वाले पुरुषा भी पितृ संज्ञक हैं। पूर्व लिख आये हैं कि पैप्पलाद संहिता में 'पितरः' के स्थान में 'वसवः' शब्द का प्रयोग है। वसवः मनुष्यों को तथा किरणों+ को वा ब्रह्मचारियों को भी कहते हैं। पितर ऋतुओं को भी कहते हैं।

मनसा परिक्रमा मन्त्र २ का भावार्थ तथा वैज्ञानिक विवेचना।

आधिदैविक पक्ष में:—

सूर्य जब दक्षिण दिशा की ओर होने लगता है उससे पूर्व पृथ्वी के उत्तरीय अर्धभाग में ग्रीष्म ऋतु थी और अग्नि का साम्राज्य था। ग्रीष्म ताप से वायु मण्डल फैल कर, वायु हल की†

¶ "सोम्याः पितरः सोम सम्पादिनः ते—असुं प्राणं ये ईयुः" (नि० दै० १२-२-१६-१२। तेज को (सोम को) गर्भ में लिये हुए (सोम) अन्न औषधि को उत्पन्न करने वाले मेघ जल, वा सोम-विद्युत के प्रवाह को बढ़ाने वाले—विद्युत भार को धारण करने वाले विद्युत धरातल भेद से युक्त (Hige voltage—High tension wires) तारों के सिरे—इत्यादि सब ही पितर कहलाते हैं। ऋतवः पितरः, श० २-६-१-३२, कौ० ५-७।

+ नि० १-५।

†नाड्यौ वायु संयोगात् आरोहणम्। वै० दर्शन, ५-२-५। सूर्य ताप से संयोग होने पर वायु ऊपर उठती है।

और गर्म होकर ऊपर आकाश में उठती है, और रिक्त स्थान ❀ में समुद्र वा नदी तीर की ओर से ठण्डी वायु जल से भरी, गरम पृथ्वी तल की ओर गति करती है। वायु में (तिर:) प्राप्त 'अग्नि तथा जल' उष्ण प्रदेशों की ओर चलते हैं और उन प्रदेशों को जल वर्षा रूप में देते हैं। जहां भी वर्षा जल देने हेतु यह अग्नि और जल से भरी हुई वायु गति करती है, तथा अन्न औषधि आदि की वृद्धि करती है वह सब दिशायें गति वृद्धि की दिशायें होने से दक्षिण दिशा हैं। गरमी के कारण वायव्य कणों का आणविक वेग (Kinetic energy) बढ़ जाता है। उन कणों में प्राप्त आणविक वेग (atomic velocity) अधिक हो जाता है और वे गरमी को पीकर, उस गरमी को इस बढ़े हुए वेग में परिणत कर देते हैं, फल स्वरूप गरमी के ख़र्च हो जाने से, (temperature) ताप क्रम कम हो जाता है परन्तु वायु फैलकर हलकी हो जाती है। इस फैले हुए वायु मण्डल में जल समा जाता है और वाष्प रूप में फैलकर और भी अधिक वायु को उपरोक्त क्रियानुकूल ठण्डा ❀ कर देता है। तथा च यह आकाश में शोभायमान उतराती हुई चलने

❀ जाति अनन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्—पूर्व परिणाम् (परिस्थिति) के नाश होने पर नवीन पदार्थों की उत्पत्ति इस कारण पूर्व स्थान में होती है कि रिक्त स्थान को भर देना प्रकृति का कार्य है। यो० द० ४-२। Nature fills up vacuum.

❀ अप्सु शीतता। वै० द० २-२-५। जलों में शीत गुण है।

वाली मेघावलियां तथा उनकी कारण भूत सूर्य किरणें तिरश्चि-राजी हैं। यह सूर्य किरणें तथा मेघ ही अन्तर्हित अग्नि तेज तथा जल को संचित करते और सुरक्षित रखते हैं। यह सब मेघ निर्माण, इन्द्र (सूर्य) की किरणों के प्रताप से ही सम्भव होता है। इस अन्तर्हित जल को भी —मेघों से वृष्टि द्वारा, अन्नादि उत्पत्ति के हेतु, (पितरः) सूर्य किरणें वा तज्जनित ऋतुएँ—कालान्तर में, मेघों में सोम रूप वृष्टि कणों को सम्पादन कर हम तक (इषु) ❀ प्राप्त करावेंगी। जो (पितरः) ¶ अन्तर्हित प्राण-शक्ति अर्थात् वायु और जल कणों में बढ़ा हुआ आणविक वेग है—वह वेग संस्कार (Kinetic & Potential energy वा Pressure) वर्षा ऋतु में इस सोमरूप मेघ जल को स्थान स्थान पर पहुंचाने में सहायक हैं।

अतः, समृद्धि, शीघ्रता सूचक, तथा दान अर्थ में दक्षिण दिशा का प्रयोग है। इस शीघ्र गति और वृद्धि की दिशा में, सूर्य वायु और विद्युत—(इन्द्र) ‡ का साम्राज्य है। यह शक्तियां मेघ रूप जल में सुरक्षित हैं। अर्थात् अग्नि, वायु और विद्युत् तेज

❀ इषु—गतिकर्म—गति (ज्ञान गमन, प्राप्ति)। नि० दै० ६-२-१८-१४

¶ ऊष्म भागा हरण भागा हि पितरः (श० २-६-१-७)।

तिर (प्राप्त) इव वै पितरः ते पितरः सोमवन्तः। श० २-६-१-७/१।

त्रया वै पितरः— अग्निषु आत्ताः सोमवन्तः वर्हिषदः। श०, ५-५-२८।

‡ अयं वा इन्द्रः यः अयं वातः पवते (श० १४-२-२-६ ।; यः वै वायुः स इन्द्रः। श० ४-१-३,१६; स्तनयित्नु एव इन्द्रः, श० ११-६-३-६)

(इन्द्र) † मेघ मय जल में अन्तर्हित, मेघ के साथ साथ आकाश में संचरण करते हैं। यह तेज ही वर्षा द्वारा सोम (अन्न) की उत्पत्ति में मुख्य साधन है तथा च वर्षा रूप जल को मेघ से वर्षाने में सूर्य की तिरछी किरणें ¶ कारण हैं।

वादलों में जल के परमाणु वायव्य रूप हैं उनमें स्थित वाष्प ठंडा होने पर भी जम कर पानी की बूँदें नहीं बनाता ❀ जब तक सूर्य की तिरछी किरणें इन वादलों में विद्युत् परिणाम (Ionisation) उत्पन्न नहीं करतीं वा हव्य पदार्थों को सूक्ष्मतर व्यापक रूप में वाष्प में नहीं फैला देतीं। सूर्य की किरणों से विद्युत ❀ त्रसरेणु 'Ions' वादल में उत्पन्न होते हैं। इन विद्युत् परमाणुओं अथवा यज्ञ के हव्य सूक्ष्मतर परमाणुओं के चारों ओर ही वाष्प जमना प्रारम्भ करती है। विजली के कड़क जाने ‡ पर यह जल भारी बिन्दु बन कर, पूर्व प्राप्त अग्नि तेज तथा आणविक तेज के शेष भाग सहित, बसु + रूप किरणों

---

† अग्निषु आत्ताः सोमवन्तः पितरः (श० ५-५-४ २८)

¶ अपां सघातो विलयनम् च तेजः संयोगात्। वै० द० ५-२-८।

❀ तत्र विस्फूर्जथुः लिंगम्। वै० द० ५-२-९।

‡ अपां संयोगा भावे गुरुत्वात् पतनम्-वै० द० ५-२-३।

अपां संघातः विलयनम् च तेजः संयोगात्। वै० द० ५-२-८।

+ पितरः इषवः के स्थान में 'वसव इषवः' पाठ। मै० सं०। वसुरश्मि। नि० १-५। प्राणः वै वसवः। जै० उ० ४-२-३। पितरः प्रजापतिः (प्राणः)। गो० उ० १-१५।

के प्रभाव वा प्राणशक्ति को अन्तर्हित किये, बरस कर हम तक पहुंचते हैं। यह प्राण शक्ति ही बीज को (इषु) वध करके † (गला कर) अन्नादि के उत्पन्न करने में सहायक होती है।

अध्यात्म पक्ष में:—

पूर्व स्थानीय, मनुष्य के फेफड़े में, (Oxygen) प्राणवायु रक्त के 'असित' काले अन्न भाग को भस्म करके, रक्त में 'अग्नि' प्राण शक्ति को संचरित करती, और रक्त कणों को स्थान स्थान में शरीर में प्रवाहित करती है। यह रक्त का प्रवाहित होकर जीवन को सुस्थिर रखना शरीर में दक्षिण अर्थात् गति, वृद्धि, उत्साह, दान की दिशा है। रक्त कणों में प्राप्त तथा अग्नि पाचन द्वारा उत्पन्न यह प्राण धारायें+—प्रवाहित रोहितवर्णीय रक्त कणों की मालाओं में (तिरश्चिराजी रक्षिता) सुरक्षित, पितर + संज्ञक, जीवन की भण्डार हैं। इस गति वृद्धि की दक्षिण दिशा में 'इन्द्र-प्राण वा जीव का साम्राज्य विस्तृत होता है। रक्त में संचित प्राणशक्ति पंचधा अथवा दश प्राणों के रूप में अङ्ग प्रत्यङ्ग को पुनः जीवन देती है तथा रोग कीटाणुओं को नष्ट कर, हर्ष, स्थिरता, तथा बल आदि ऐश्वर्य प्रदान करती है। यह हर्ष बल आदि 'मन' के गुण हैं। अतः प्राण संयुक्त रक्तकण, तथा जीव के

† इषु-ईषते-गति कर्मा वध कर्मा वा। नि० दै० ६-२-१८-१४।

+ त्रयो वै पितरः- अग्निषु आत्ताः, बर्हिषदः, सोमवन्तः, पितरः। अग्नि द्वारा भक्षित, सोमयुत।

आधिपत्य में सांसारिक कार्यों की पूर्त्ति में संलग्न–'मन'‡ही 'पितर' है। रसवीर्य यश बल की प्राप्ति की ओर जीवन को यह प्राण और मन ही प्रेरित करते हैं। यह ही 'प्राण संयुत मन' का इषु कर्म है। इस उपरोक्त 'इन्द्र' प्राणवायु के अधिष्ठातृत्व को जान कर हम इसकी महत्ता को (नमः) श्रद्धा के साथ स्वीकार करें, तथा शरीरस्थ केन्द्रों में प्राणायाम द्वारा इस प्राण के वशीकरण का यत्न करें; हमारा मन एकाग्र हो, स्वस्थ और बलवान हो, वह प्राण बल से युक्त हो हमें शत्रु तथा रोग के कीटाणुओं से सुरक्षित करे। सब के भीतर इसी प्राण तथा मन की महत्ता को देख कर सबसे ही हम मैत्री का व्यवहार करें।

आधिभौतिक पक्ष में :—

कोयला और जल, पैट्रोल, रसायनिक पदार्थ जैसे तेजाब धातु, बारूद इत्यादि, के द्वारा तथा सूक्ष्म वायु में विद्युत × आघात के द्वारा, क्रमशः, गैस, घोल (Solution), और (Xray) एक्स किरण के रूप में, जब शक्तियां प्रवाहित होती हैं, तो यह प्रवाहित गति, वृद्धि तथा शीघ्रता सूचक दक्षिण दिशा है। आग्नेय परिणाम स्वरूप, प्रसारण (Expansion) द्वारा उत्पन्न दबाव (Pressure), तथा घोलन परिणाम स्वरूप धरातल आकुंचन (Surface tension), आणविक

‡ मनः पितरः। श० १४-४-३-१३।

× एक्सरेट्यूब (Xray tube) में आणविक ध्वंस (atomic Bombardment)

प्रसार (Osmotic Pressure), तथा विद्युत भार (Ionization Potential), इत्यादि अनेक रूप में प्राप्त तथा प्रवाहित होने वाली वायव्य वा विद्युत् शक्तियां ही 'इन्द्र'—प्राण वा विद्युत के रूप हैं, जिनसे हम अनेकों कार्यों का सम्पादन करते हैं—अर्थात् इस शीघ्र गति, वृद्धि, ऐश्वर्य के क्षेत्र में उपरोक्त इन्द्र का ही साम्राज्य है। इस प्रवाहित शक्ति के मूल कारण-अणुओं, तथा विद्युत परमाणुओं, (Electrons) और त्रसरेणुओं (Ions) में प्राप्त क्षुद्र क्षुद्र तेज के संचित कोष हैं। यह सूक्ष्म तर परमाणु अनन्त संख्या में आकाश में प्रति सेकंड लगभग १८६००० मील के वेग से गति करते 'इन्द्र' रूप विद्युत वा भौतिक प्राण शक्ति के प्रभाव को (तिरश्चि राजी रक्षिता) सुरक्षित रखते हैं। संचित शक्ति का ऊँचे धरातल से (High voltage or Potential or pressure) नीचे धरातल की (Low potential etc) ओर जल की भांति स्वभावतः गमन होता है। अतः शक्ति का एक स्थान वा तार इत्यादि में संचित घनत्व † ही 'पितर' है। यह घनत्व ही प्रवाह में (इषु-ईषते-गति-प्राप्ति), वा लक्ष्य भेदन में सहायक है। यह (पितर) धरातल भेद उन विद्युत् आदि के प्रवाहों को स्थान स्थान में पहुँचाने में सहायक है। सारांश यह कि बहने

† 'यदि न अश्नाति— पितृदेवत्यः कूपः भवति'— विद्युत् शक्ति जब कोई कार्य न करती हुई होती है तो पितर रूप में वह शक्ति संचित हो कर घनरूप हो जाती है। श० (११-१-७-२), (३-६-१-३)

वाली शक्तियें 'इन्द्र' रूप हैं। घोल, डाइनेमो, मोटर, इंजन, X किरण ट्यूब, रेडियम आदि पदार्थ (जिनमें अणु ध्वंस स्वभावतः होता रहता है) तथा वायु मंडल में ताप, घनत्व भेद आदि गति वृद्धि की दिशा के सूचक होने से दक्षिण दिशा हैं। ऊँचान, नीचान के रूप में शक्ति का, स्थान विशेष में संचय (Potential Difference, Pressure, Polarity etc.) होना ही 'पितर' है। शक्ति प्रवाह अर्थात् 'इन्द्र' के वायव्य (वहन) गुण को पितर ही सम्पादन करते हैं। प्रति प्रति अणु, परमाणु त्रसरेणु में प्राप्त क्षुद्र प्रवाहित शक्तियाँ ही इस तेज 'इन्द्र' के प्रवाह का निर्माण करती हैं, यह क्षुद्र तेजयुत मालायें (तिरश्चिराजी) विद्युत्, चुम्बक, आदि प्रवल प्रवाहित तेजों की रक्षक हैं।

इन सब तत्वों को जानकर हम आदर पूर्वक अर्थात् होशियारी के साथ (नमः) इनको प्रयोग में लावें और अपने को शत्रु रहित करें तथा लोक सेवा द्वारा, मैत्री तथा ज्ञान का विस्तार करें।

ईश्वर तथा विज्ञान पक्ष में :—

सृष्टि आरम्भ से आगे चलते ही, गति वृद्धि की दक्षिण दिशा है। वायु ऋषि यजुर्वेद*का उपदेश करते हुए कर्म क्षेत्र को प्रकट

* वायोः यजुर्वेदः अजायत। श० ११-५-८-३। वायुः एव यजुः श० १०-३-५-२। यः वै वायुः स इन्द्रः। श० ४-१-३-१९।

करते हैं। इधर ज्ञानमय (अग्नि) तप+करते हुए, ईश्वरीय चेतन शक्ति तथा क्रियाशीलत्व क्रमशः अल्पज्ञ जीव और प्रकृति में उदय हो सृष्टि का विस्तार करते हैं। ईश्वरीय शक्ति ही आधार रूप से या मुख्य अधिष्ठातृत्व×रूप से, जीव को यह सामर्थ्य देती है कि वह प्रकृति में से गुणों को आकृष्ट कर, कर्म करने हेतु, मन बुद्धि चित्त अहंकार का निर्माण करे। इन अहंकार चतुष्टय में ईश्वर की निज व्याप्त अन्तर्हित चेतन सत्ता का साम्राज्य है। यही साम्राज्य, इन मनबुद्धि युत जीवों * के हेतु, प्रकृति को समृद्धि तथा ऐश्वर्य के रूप में बनाये हुए-विस्तृत होता है। जीवों में प्रवाहित ईश्वर-शक्ति ही (तिरश्चिराजी) अन्तः करणों को उज्ज्वलित ÷ (राजी) करती है। अणु, परमाणुओं में प्राप्त भौतिक शक्तियाँ भी (तिरश्चिराजी) मन आदि की किरणों का प्रकाश करती हुईं इनके अधिष्टातृत्व को प्रकट करती हैं। जीव तथा अन्तःकरणों तक उन प्रकृति के महत् तत्व आदि परमाणुओं को, मन बुद्धि निर्माण हेतु वा इन्द्रियों के निर्माण हेतु— आकृष्ट करने वाली वा

+ इन्द्र इति हि एतम् आचक्षते य एष तपति। श० ४-६-७-११; तस्मात् आह इन्द्रः ब्रह्म इति। कौ० ६-१४।

× तत् सन्निधानात् अधिष्ठातृत्वं मणिवत्। सां० द० १-९-७।

* विशेष कार्येषु अपि जीवानाम्। सां० द० १-९७।

÷ अन्तः करणस्य तदुज्ज्वलितत्वात् लोहवत् अधिष्टातृत्वम्। सां० द० १-९८।

प्राप्त कराने वाली मुख्यतया ईश्वरीय तपोमय घनाघन विभूति है, जो महा प्राण रूप से (पितर) नाना रूपों में विभक्त हो चेतन जगत तथा जड़ सृष्टि में क्रिया आदि का स्रोत है। यही महा प्राण का घनाघन भण्डार— जिसके-बुद्धि-अग्नि-आकर्षण चुम्बक-विद्युत् आदि रूपान्तर मात्र हैं-पितर संज्ञा वाला है। यही जीव के प्रति, उस मूल ब्रह्म का, निष्काम कर्म द्वारा, नित्य उपदेश करके जीव मात्र को उसकी प्राप्ति हेतु संलग्न करता है। यजुर्वेद ही वह कर्मकाण्ड का क्षेत्र है जिस पर वायव्य शक्तियों (इन्द्र) का साम्राज्य है। वायु ही वह आदि ऋषि हैं जिनके द्वारा (यजुः) कर्म प्रकट हुआ। मन्त्र शृंखलायें ही अथवा ज्ञान युत विचार धारायें ही 'तिरश्चराजी' रूप से इस यजुः रूप कर्म क्षेत्र को सुरक्षित बनाये हैं। 'पितर' ❀ पूर्व आचार्य वा राजा ही, प्रजा तथा शिष्यों को कर्म (शिल्प विद्या) की प्राप्ति 'इषु' रूप कराते रहते हैं। इन सब में हमारी श्रद्धा हो जिससे हम परस्पर प्रेम करते हुए—ज्ञान, धन तथा ऐश्वर्य का विस्तार करें। इति॥

❀ पितर : प्रजापतिः। गो उ० १-२५।

मन्त्र १०

मनसा परिक्रमा मन्त्र ३

ओ३म् प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिता अन्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

ओ३म्। प्रतीची। दिक्। वरुणः। अधिपतिः। पृदाकू। रक्षिता। अन्नम्। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः॥

शब्दार्थ :—

प्रतीची अर्थात् सन्मुख वा वापिस जाने, अथवा अस्त होने की दिशा में वरुण नामक अन्तर्हित शक्तियों का साम्राज्य विस्तृत है। कुत्सित शब्द करने वाले पृदाकू उन अन्तर्हित शक्तियों के रक्षक हैं। अन्न ही प्राप्तव्य पदार्थ है अथवा अन्न द्वारा वह तेज हममें प्राप्त होता है। इन दिशा, अधिपति, रक्षक तथा इषुओं की दिव्यता को स्वीकार करते हुए, उनकी सहायता से हम पारस्परिक प्रेम का विस्तार करें।

आधिदैविक पक्ष में:—

पूर्व दिशा में अग्नि का प्रकाशहीन पदार्थों से उत्पन्न होना तथा

दक्षिण दिशा में वायु (इन्द्र) की गति वृद्धि, हम पहिले दो मन्त्रों में देख चुके। अब यहाँ प्रतीची दिशा में वरुण का साम्राज्य किस प्रकार फैलता है यह विषय है। सूर्यास्त होकर रात्रि❀का प्रारम्भ है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तारा गण आदि का प्रतिगत होकर दृष्टि से छिप जाना ही प्रतीची×दिशा है। जीव की शक्तियों का तथा प्राकृतिक शक्तियों का अन्तर्मुखी होना ही प्रतीची+दिशा है। गरमी तथा वायु दोनों का कार्य पूर्व मंत्रों में हम देख चुके हैं। जल को वाष्प मय बना कर गरमी ‡ बादलों में अन्तर्हित हो गई। वृत्ररूप बादल ¶ इकट्ठे हो रहे हैं जिनमें जल बहने वाला होकर भी बरस * नहीं रहा। जलों में अन्तर्हित गरमी तथा आणविक शक्तियें ही वरुण हैं। बादलों में गरमी के अस्त

❀ रात्रिः वै वरुणः। ऐ० ४-१०। वारुणी रात्रिः। तै०१-७-१०-१।

× प्रतीची—अभिमुखी, प्रतिगतः। नि० नै० ३-१-५।

‡ यः प्राणः स वरुणः। गो० उ० ४-११ ; यः वै वरुणः स अग्निः। श० ५-२-४-१३।

अप्सु (जलों में) वै वरुणः। तै० १-६-५-६। एतस्य प्राणस्य आपः शरीरः। बृ० ३-१-५।

¶ वृणोति आच्छादयति अन्तरिक्षम् इति वरुणः। उ० ३-१३।

* वरुण्या वा एता आपः भवन्ति, याः स्यन्दमानानाम् न स्यन्दते। श० ५-३-४-१२।

बादलों में स्थित, जल, अग्नि और वायु—बहने वाले—वरुण संज्ञक होकर—बहते नहीं।

हो जाने पर तथा जलों के भार से युक्त होने वा ठंडा हो जाने से 'इन्द्र' वायु निर्बल पड़ जाती है और बादल इकट्ठे होने लगते हैं। प्रतीची (प्रतिगतः) दिशा इन्हीं अग्नि, जल, वायु, तथा सूर्य के अस्त होने की दिशा है तथा च पृथ्वी पर जल के वापिस लौटने की दिशा है। इस दिशा में इन जल, अग्नि, वायु को बादलों के रूप में सुरक्षित रखने वाले अथवा वरुण संज्ञक अन्तर्हित शक्तियों को सुरक्षित रखने वाले पदार्थों को "पृदाकू" शब्द से मंत्र में बताया है। यह पृदाकू कौन है किंचित् विचार करें।

प्रदाकू शब्द के अर्थ पर विचार

कुत्सित (निन्दित) शब्द करने वाले को पृदाकू‡ कहते हैं। प्रायः 'पृदाकू' शब्द का अर्थ लोक में व्याघ्र वा सर्प का पाया जाता है। प्रतीची दिशा के विषय में भी प्रसिद्ध है कि साँपों की दिशा है। शतपथ ब्राह्मण में इस दिशा को सर्पों की दिशा बतलाया है। भला साँप तो उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम ही नहीं—विशेष तया तो, वे पृथ्वी के तल के नीचे पाये जाते हैं। फिर प्रतीची दिशा में साँपों से भय मान लेना बुद्धि के विरुद्ध है। अतः हमें पृदाकु का अर्थ साँप लेना हेय है। यहाँ आर्य वैदिक भाषा तथा लौकिक भाषा का विरोध स्पष्ट दिखाई देता है। प्रतीची दिशा सचमुच सर्पों की दिशा है यह मानते हुए भी सर्प का अर्थ यहाँ साँप नहीं हो सकता। इस हेतु वैदिक साहित्य की खोज करने पर शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण में, भाग्यवश प्रमाण मिलते हैं जिनसे,

‡ पर्दते कुत्सितं शब्दं करोति इति पृदाकुः, व्याघ्रं सर्पो वा। उ० को० ३-८०।

ऋषियों की बुद्धि में श्रद्धा उत्पन्न होती है। तै० ब्रा० २-२-६-२ में स्पष्ट दिया है कि 'देवा वै सर्पाः तेषां इयं पृथिवी राज्ञीः'। अर्थात् पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि इत्यादि यह सब देवता सर्प हैं। और 'इयं वै पृथिवी सर्प राज्ञीः' (श० २-१-४-३० तथा) 'इमे वै लोकाः सर्पाः ते सर्पन्ति'। श० ७-४-१-५। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि यह गति करने वाले सारे के सारे नक्षत्र, तारागण, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, आदि सर्प हैं। यह हम स्पष्ट देखते हैं कि वह पश्चिम-(प्रतीची) दिशा में अस्त होते ही हैं। पृथ्वी की गति अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व को होती है। अतः सभी लोकान्तरों—सूर्य, चन्द्र, तारा तथा वायु (Trade winds) आदि की गति पश्चिम को प्रतीत होती है। इस हेतु अपेक्षा कृत पृथ्वी सर्प राज्ञी है। भला प्रतीची दिशा इन लोक लोकान्तरों के अस्त होने की दिशा है इसमें कोई सन्देह है। पर हां वेद की भाषा का अज्ञान ही हम से सर्प का अर्थ सांप ❀ कराता है, क्या आश्चर्य जो हमारी संस्कृति पर संसार हंसे।

अतः मंत्रार्थ में प्रतीची नामक जो अस्त होने की दिशा है उसमें अन्तर्हित शक्तियों का साम्राज्य है। प्रकट शक्तियों का अनुभव इस दिशा में नहीं होता। बादलों में भी 'गरमी जल

❀ कतिपय विद्वानों ने पृदाकु का अर्थ बरफ़ीला पर्वत भी किया है। क्योंकि बर्फ़ीला पर्वत कुत्सित शब्द करता है। पर उसका पश्चिम दिशा से क्या सम्बन्ध है, यह सन्देह है। पृदाकु का अर्थ स्पष्ट बर्फ़ीला पर्वत सिद्ध भी नहीं।

वायु' अपनी शक्तियें तिरोभूत कर चुके हैं। परन्तु इन शक्तियों का साम्राज्य तब तक क़ायम है जब तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन देवताओं के अणुओं, विद्युत-परमाणुओं (Electrons), और त्रसरेणुओं (Ions), वा कणों (Molecules) में आणविक शक्तियाँ-ईश्वर की देन रूप में सुरक्षित हैं। अर्थात् वरुण रूप अन्तर्हित शक्तियों को सुरक्षित रखने वाले, यह पृथ्वी, वायु आदि देव हैं जिन्हें पृदाकु कहते हैं वा सर्प कहते हैं-पर सांप नहीं। बादलों की गरज, आँधी की तड़ाफड़, जल की पड़ापड़, विद्युत की कड़क, पृथ्वी का आकाश मार्ग में गति करते हुए घोर शब्द जिसको हमारे कान के परदे सुन नहीं सकते-पर इसी पृथ्वी की पर्वतों-भूकम्प-ज्वालामुखी आदि के सम्बन्ध में घोर गर्जन आदि, यह सब कुत्सित शब्द हैं।

इस वरुण (अन्तर्हित शक्तियों) के साम्राज्य में-पृथ्वी, वायु आदि सर्पों द्वारा सुरक्षित वे शक्तियां हमें क्यों उपलब्ध होती हैं? उत्तर—अन्न ‡ प्राप्ति के हेतु। बादलों में हव्य ❀ पदार्थ ही जो यज्ञ द्वारा वायु में प्रेरित हुए हैं अथवा धनात्मक विद्युत् त्रसरेणु (positive ions) जो सूर्य किरणों द्वारा जल और वायु के कणों में उत्पन्न हो रहे हैं अन्न हैं। सोम रूप † यह केन्द्रीय विद्युत् त्रसरेणु ही अन्न हैं जिनकी ओर

---

‡ अन्नं इषवः—मनसा परिक्रमा मन्त्र ३।
प्रतीची दिक् सोमः देवता। तै० ३-११-५-२।
❀ हविः वै देवानाम् सोमः। श० ३-५-३-२।
† अन्नं सोमः, कौ० ६-६। अन्नं वै सोमः, श० ३-६-१-८।

प्राण †रूप अन्तर्हित शक्तियाँ आकृष्ट हो, जल और वायु के परमाणुओं को जमने का अवसर देंगी। धूल‡के कण भी जिनके चारों ओर जल विन्दु बनते हैं अन्न हैं क्योंकि यह जल वायु की अन्तर्हित गरमी को खींच लेते हैं तब जल निज रूप में जल विन्दु बनाने में समर्थ होता है। पदार्थ विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि वाष्प स्वतः बरफ से भी अधिक ठंडी हो जाने पर भी जल विन्दु के रूप में जम नहीं सकती जब तक उस वाष्प में, सूर्य की किरणों द्वारा 'Ions' विद्युत् त्रसरेणु उत्पन्न न हों अथवा धूलि के कण प्राप्त न हों। यह धूलि के कण यज्ञ द्वारा पर्याप्त मात्रा में यदि अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उत्पन्न कर दिये गये हों तो यह असम्भव है कि बादल जमकर वर्षा न करें। सी. टी. आर. विलसन का प्रसिद्ध प्रयोग उपरोक्त सिद्धान्त को स्फुट करता है। कौषीतकी, शतपथ, तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणों के प्रमाणों को पाठक देखें जो हमने यहाँ दिये हैं।

अतः इस अन्तर्हित तेज का—सूर्य किरण द्वारा विद्युत त्रसरेणुओं में परिणत होना व हव्य कणों द्वारा शोषण जब सम्भव होता है तभी बादलों में जल बनता है और वर्षा होती है। यह वर्षा भी अन्न हेतु है। बड़े २ जंगल भी इस वाष्प को जमाने में सहायक होते हैं कारण कि वे भी बादलों की

† अंगिरसाम् प्रतीची दिक्। तै० ३-१२-६-१। जल में जो केन्द्रीय त्रसरेणु हैं उनकी विद्युत् बादलों में अन्तर्हित है।

‡ हविः वै देवानाम् सोमः, श० ३-५-३-२।

अन्तर्हित गर्मी वा विजली का शोषण करते हैं और वाष्प का जल विन्दु वनाते हैं। अतः जहाँ अन्तर्हित गरमी, वायु और जल की शक्तियाँ बादलों को बिखेरे फिरती हैं वह ही वरुण का साम्राज्य छाया है। यह वादल तथा पृथ्वी आदि लोक ही अग्नि जल वायु के तेज, वा चुम्बक, वा आकर्षण जैसी शक्तियों को, जो छिपी हुई हैं, सुरक्षित रखते हैं। अन्न वा हव्य कण वा सोम रूप विद्युत के केन्द्रीय त्रसरेणु वा पृथ्वीस्थ वनस्पति, जंगल इत्यादि, उस जल और तेज को पृथ्वी तल पर लाने में (इषु) कारण हैं। अगले मंत्र ४ में, किस प्रकार से इन सोम वा अन्न वा केन्द्रीय विद्युत् परमाणुओं का साम्राज्य विस्तृत होता है, वर्णन है। इन दिशा-अधिपति- रक्षक और और इषु वर्ग के रहस्य ज्ञान द्वारा हम ब्रह्म शक्ति को अन्न रूप नमस्कार करें और द्वेष भाव से रहित हों।

अध्यात्म पक्ष में:—

प्रथम अर्थात् प्राची दिशा में, फेफड़े में काले रक्त से प्राण वायु (oxygen) संयुक्त हो कर, गरमी उत्पन्न हुई। इस गर्मी को रक्त कणों में तिरोभूत करके—दक्षिण अर्थात् गति वृद्धि की दिशा में रक्त प्रवाह समस्त देह में हुआ। अन्त में यह अन्न (पृथ्वी तत्व)—जल—और अग्नि की शक्तियाँ रक्त में तिरोभूत हो कर हृदय में रक्त के साथ २ जाती हैं इसी रक्ततेज का विशेष भाग रीढ़ की हड्डी के सुषुम्णा भाग में जल रूप (Cerebro-spinal fluid) में सञ्चित होता है,

जब बुख़ार तेज़ होता है तब हमें पता लगता है कि शरीर में कितनी गर्मी पैदा करने की शक्ति छिपी हुई है। रक्त का विशेष २ भाग 'प्राण शक्ति' को लिये हुए जिगर, पित्ता, तिल्ली, आदि में भी रसों के रूप में सुरक्षित रहता है। जब अन्न खाया जाता है तो यह शरीर के अङ्ग, अन्न को पचन करने के हेतु भिन्न २ रसों को उत्पन्न करके, अन्न को गला कर नये २ रक्त कणों का निर्माण करते, जीवन प्रवाह को चालू रखते हैं। रक्त कणों में छिपी हुई गर्मी का शरीर में साम्राज्य छाया है। यही वरुण का अधिपति होना है। वाह्य साधनों से प्राप्त अग्नि का शरीर के अन्तः प्रदेश में कार्य करना ही प्रतीची दिशा है। जहाँ सारी यह शक्तियाँ, सर्पाकार (पृदाकु) रीढ़ की हड्डी से लेकर सर्प मुख की भाँति विस्तृत मस्तिष्क भाग तक, सुरक्षित हैं। अथवा ‡हृदय में प्रतिष्ठित नाड़ियां ही पृदाकु हैं, जो शब्द करतीं—रक्त प्रवाह को धक्का देकर शरीर में तेज (वरुण) का सम्राज्य विस्तृत करती हैं। हृदय ❀ की ओर ही (प्रतीची–

---

‡हितानाम ७२००० नाड्यः हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रति अवसृप्य पुरीतति शेते। श० १४-५-१-२१। हृदयाभिमुख तथा हृदय प्रतिगत ७२००० नाड़ियां (सर्प की भाँति सर्पण क्रिया वाली) स्थित हैं।

❀यः (वरुणः-) सिन्धूनां स्यन्दमानानां उपोदये सप्तस्वसा। नि० दै० १०-१-५-२१। जो वरुण रक्त-नाड़ियों के केन्द्र में सात भगिनियों (विभक्तियों) सहित प्रकट होता है। वेद मंत्र निरुक्त प्रतिपाद्य, वरुण के उपाख्यान में देखो।

अभिमुखी वा प्रतिगत दिशा में) रक्त लौट कर आता है। अँतड़ियों तथा जिगर, पित्ता, तिल्ली, आदि ही जो शरीर में भिन्न २ रस उत्पन्न करके पाचन क्रिया में सहायक होते हैं, इस सञ्चित सुरक्षित 'वरुण' के रूप हैं, और धमनियों और शिराओं में शब्द करता हुआ रक्त ही "पृदाकु" बन कर अपने लाल कणों (Hemoglobin) में प्राण (Oxygen) वायु को सुरक्षित रखता है। शरीर में अन्न (इषु रूप) प्राप्त होने पर यह वरुण रूप अग्नि पाचक रसों के द्वारा प्राप्त होती है; अथवा रक्त कण ही स्वयं अन्न रूप बन कर—क्रियाशक्ति के उपभोग काल में—शरीर में 'इषु' रूप काम आते हैं। इनसे किस प्रकार नित नये रक्त कणों का निर्माण होता है यह विषय अगले मनसा परिक्रमा मंत्र ४ में मिलेगा।

आधिभौतिक पक्ष में:—

सबसे प्रथम (प्राची दिशा में) कोयला तथा पैट्रोल को जला कर अग्नि प्रकट हुई उसने दक्षिण दिशा में गति वृद्धि की, और वाष्प, गैस, वा वायुओं का रूप धारण किया। इन में जो अन्तर्हित आणविक तेज वा अग्नि है वही वरुण का रूप है। वाष्प या गैस, अग्नि से सहयोग प्राप्त करके फैलना चाहती हैं पर संकुचित स्थान जैसे बॉयलर (Boiler) में घिरे होने के कारण, वह वाष्प (Steam) फैलने के लिए उद्यत, दबाव (Pressure) बढ़ाती हुई प्राप्तछिद्र को पाकर शब्द करती हुई बलपूर्वक निकलती है

और एंजिन गाड़ियों के साथ गर्जन करता हुआ आगे बढ़ता है। वह वाष्प ही गति करती हुई, 'पृदांकु' बनी हुई, इस वरुण रूप अन्तर्हित तेज को, निज कणों के गर्भ में 'आणविक शक्ति' (Kinetic & Potential energy or Pressure) के रूप में सुरक्षित रखे हुए है। भस्म होने वाला कोयला वा पैट्रोल या तेल ही अन्न रूप से इस वरुण नामक तेज की प्राप्ति कराते हैं। कोयला तथा जल का खर्च हो जाना वा वाष्प का कार्योन्मुख होना ही 'प्रतीची' अर्थात् अभिमुखी वा प्रतिगता दिशा है।

बिजली की बैटरी में, तेज़ाब व भस्म होने वाले जस्ता या सीसा इत्यादि के प्लेटों से बिजली के पैदा करने में भी, उपरोक्त मंत्र के अर्थ घटते हैं। तथा च रेडियम, एक्स किरण (Xray) वा बिजली के द्वारा खारी जल में से कास्टिक सोडा इत्यादि सम्बन्धी (Electrolysis) प्रयोगों में भी उपरोक्त सिद्धान्त घटते हैं जो मन्त्र ४ की व्याख्या में लिखे हैं।

ईश्वर तथा विज्ञान पक्ष में:—

अग्नि ऋषि तथा वायु ऋषियों द्वारा ज्ञान का और कर्म का अथवा गति वृद्धि, का उपदेश ऋग्वेद और यजुर्वेद के मंत्रों द्वारा पूर्व दो मंत्रों में हो चुका। अब ज्ञान और निष्काम कर्म से जो तेज बल वा ऐश्वर्य प्राप्त होता है उस को उपासना-सिद्ध ईश्वर-भक्ति रूप जल में अन्तर्हित करने का उपदेश—आदित्य ऋषि सामवेद के द्वारा करते हैं।

जीव ब्रह्मचर्य अवस्था में अथवा अपने जीवन काल में ज्ञान

सम्पादन कर, गृहस्थाश्रम में गति तथा वृद्धि करते हुए वाणप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। यही प्रतीची (प्रतिगता) वा ईश्वर अभिमुखी दिशा है। प्रकृति में अन्तर्हित नाना रूप वाली ब्रह्म-शक्ति जो वरुण रूप है, तथा गति वृद्धि की दिशा में प्रकृति में जो 'पितर' नामक ईश्वर का प्रजापति—प्राण रूप देखा है, उस पर विचार करते हुए—वाणप्रस्थी परमात्मा के गुणों का चिंतन करता है। उसकी अनन्तता में तथा उस परम पिता के महदैश्वर्य के समक्ष—गृहस्थाश्रम का उपार्जित यश तथा स्वाध्याय प्राप्त ज्ञान—मानो पश्चिम दिशा में (प्रतिगतः) विलीन होने लगता है, यह ज्ञान ऐश्वर्य, और यश ही, ईश्वर भक्ति रूप जल में विलीन हो, मानो वरुण संज्ञक होगये। पश्चिम दिशा में जाना, मानो प्रकृति से विमुख हो अन्तर्मुखी बनना है। वे योगी सुषुम्णा नाड़ी तथा अन्य भूमियों में—एकाग्र चित्त हो—अन्तर्हित प्राण शक्ति का संचय और संयम करके इस वरुण रूप प्राण के साम्राज्य का अनुभव करते हैं। प्राण-संचय तथा संयम की भूमियों से क्रियाओं की उत्पत्ति, वा प्राणशक्ति को लिये जो इन्द्रियों की, वा रक्त कणों की, वा अन्तःकरण की वेगवान् गति होती है, वही मानो 'पृदाकु' नामक देवों की गति है। अन्तःकरण आदि तथा हृदय ही पृदाकु बन इस वरुण संज्ञक, ज्ञान बल और ऐश्वर्य को संयम की भूमियों (पितरों) में सुरक्षित रखते हैं। शब्द आदि विषयों का आस्वादन ही अन्न है जो योगी को ब्रह्मज्ञान रूप अन्न की ओर, ब्रह्म आनन्द की प्राप्ति हेतु (इषु) प्रेरित करता है।

इससे शरीर तथा सृष्टि में व्याप्त अन्तर्हित सूक्ष्म शक्तियों का अर्थात् वरुण का साक्षात् होता है।

इस दिशा, तथा उसके अधिपति वरुण, तथा गति करने वाले पदार्थों के—जिनमें वरुण शक्तियां सुरक्षित और प्रेरक रूप में प्राप्त हैं—रहस्य को जान कर हम इन सब के ज्ञान द्वारा—अन्न रूप—स्थायी आनन्द की ओर निरन्तर गति करते हुए (प्रतीची) ईश्वरोन्मुख हों और सर्वत्र आत्मा की सत्ता को देख पारस्परिक द्वेषभाव को उपरोक्त ज्ञान में विलीन करें। इति॥

मन्त्र ११

मनसा परिक्रमा मन्त्र ४

ओ३म् उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वज़ो रक्षिता-ऽशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

ओ३म्। उदीची। दिक्। सोमः। अधिपतिः। स्वजः। रक्षिता। अशनिः। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः॥

शब्दार्थः—उदीची (परली ओर की) दिशा है। सोम राजा है। सूर्य से उत्पन्न वा अपने में से उत्पन्न संतति ही रक्षक है।

विद्युत्–प्राप्ति में वा प्रेरणा में साधक है। उन दिशा, अधिपति, रक्षक, तथा इषु के प्रति नमस्कार। जो हमसे द्वेष करता है वा जिससे हम द्वेष करते हैं उस द्वेष भाव को हम दूर करें।

मन्त्रार्थ का वैज्ञानिक निरूपण

आधिदैविक पक्ष में—

पश्चिम (प्रतीची) दिशा के प्रकरण में–तीसरे मनसा परिक्रमा मन्त्र में, सूर्य तथा वाह्य प्रकाश का अस्त होना, जल पूर्ण बादलों में, वरुण रूप अग्नि वायु आदि के वल का अन्तर्हित होना—हम देख चुके। अब इधर (उदीची) परली ओर उत्तर दिशा में देखिये क्या होता है। 'सोम' का साम्राज्य छाया है। सोम ही विद्युत ‡ प्रधान बादल है, अथवा, वादलों में विद्युत् परमाणु, जो सूर्य रश्मि द्वारा उत्पन्न हुए हैं, वे केन्द्रीय विद्युत् परमाणु अथवा हव्य कण × वा त्रसरेणु (Ions) ही सोम ❀ रूप अन्न हैं जो वाष्प को जल विन्दु में परिणत करते हुए वर्षा में सहायक हैं। सूर्य की तिरछी—तेजोमय—सूक्ष्म किरणों द्वारा वायव्य कणों में विद्युत् त्रसरेणु (Ions) सोम–अन्न रूप उत्पन्न होते हैं।

---

‡ वृत्रः (वादल) वै सोम आसीत्। श० ३-४-३-१३; तत्र विस्फूर्जथुः लिङ्गम्, वै० द० ५-२-६; वादलों में बिजली का चमकना बिजली के होने में हेतु है;

× अन्नं सोमः; कौ० ६–६; अन्नं वै सोमः, श० ३-६-१-८ ;

❀ हविः वै देवानाम् सोमः; श० ३-५-३-२;

इन्हीं के चारों ओर, जल में छिपा हुआ प्राण † आकृष्ट होता है। इसी प्रकार हव्य कण भी सोम वा अन्न ❀ प्रधान तेज से संयुक्त होकर—जल में अन्तर्हित प्राण रूप तेज को आकृष्ट करके (प्राण+अन्न) साम्य तैजस अवस्था में जल के ‡ विन्दु निर्माण करते हैं। तेज द्वारा उत्पन्न उद्वेग, जल को वाष्पमय स्थिति में रखता है। तेज साम्य होने पर ही वह वाष्प जल बन सकता है अन्यथा नहीं। सी. टी. आर. विलसन के इस सम्बन्ध में प्रयोग का उल्लेख हम पूर्व मन्त्र में पृष्ठ (१२३) में कर चुके हैं वहां देख लेना। अतः बादलों में यह सोम-अन्न वा विद्युत् का राज्य है।

स्वजः रक्षिताः—

यह केन्द्रीय विद्युत् त्रसरेणु (Ionization) निज प्रभाव द्वारा (By induction) अन्य त्रसरेणुओं की स्वयमेव रचना करने में समर्थ हैं। अपने द्वारा ही अन्य त्रसरेणुओं तथा जल विंदुओं को जन्म देने वाले—अथवा 'स्वः' सूर्य किरण द्वारा उत्पन्न होने वाले यह त्रसरेणु 'स्वजः' संज्ञक इस विद्युत् के

---

†आपः सोमः सुतः। श० ७-१-१-२२।

❀दक्षिणायां दिशि (रक्त वृद्धि की दिशा में) अविष्यवः (भक्षक) नाम देवाः। अथर्व० ३-२६-२।

‡मरुतः अद्भिः अग्निं अतमयन्—तस्य तान्तस्य हृदम् आच्छिन्दन् सा अशनिः अभवत्। तै० १-१-३-१२; वायु जल के साथ, अग्नि को अन्न रूप (तम) बनाता है। उसे प्राण भेदन करता है तब वह अशनि रूप विद्यु त् होता है।

साम्राज्य का बादलों में विस्तार करते हैं। जब 'अशनि'+ अर्थात् व्याप्त विद्युत् भिन्न २ बादलों के संयोग * विभाग में कड़क कर 'वज्र' की भांति चमक जाती और जल विद्युत् † रहित हो जाते हैं—तब भारी होने के कारण जल की पृथ्वीतल पर वर्षा होने लगती है। वह जल, अन्तः तेज (अग्नि) को आँशिक पर भेदक रूप (इषु) में साथ लिए—बीज को भेदन कर पृथ्वी पर अन्न औषधि को उत्पन्न करता है।

अध्यात्म पक्ष में:—

मनुष्य शरीर में रक्त, तेज भाग (अग्नि) को लेकर अन्न से लदा हुआ गति करता है यह हम पूर्व मन्त्रों में देख चुके हैं। तब (उत्तर) बांई ओर हृदय भाग में होता हुआ आगे शरीर में धकेला जाता है। वहां शरीर की अनेकानेक ग्रंथि गह्वरों की कोष्ठें (Glands) (स्व) अपने २ आकर्षण individual affinity के अनुसार (ज) उत्पन्न करती हैं (सोम) रस को। इसीलिये रक्त वाहिनिओं के (उदीचीदिक्) उसपार (सोमोऽधिपतिः) भिन्न २

+विद्यु त् वा अशनिः। श० ६-१-३-१४। यः अश्नुते व्याप्नोति वा स अशनिः, वज्रम् वा। उ० को० २-१०२।

* अपां संयोगात् विभागात् च स्तनयित्नोः, (बिजली का कड़कना) वै० द० ५-२-११। अपां संघातः विलयनम् च तेज संयोगात्, वै०द०५-२-८।

†अपां संयोग अभावे (तेज अभावे) गुरुत्वात् पतनम्। वै० द०५-२-३। जलों के विद्यु त्—जो संयोग में कारण था—रहित होने पर जल भारी होने से गिर जाता है।

प्रकार के रसों का साम्राज्य छाया है। यहां (स्वज) शब्द का अर्थ भिन्न २ कोष्ठकों (cells) में, अपने २ में भिन्न २ रस उत्पन्न करने की शक्ति का है, जैसे यकृत ग्रंथि की कोष्ठें पित्त रस, और वीर्य ग्रंथि की वीर्य रस, उसी रक्त प्रवाह में से चुन २ कर उत्पन्न करती हैं। अतः यह उन की निजी शक्ति है जो (रक्षिता) रक्षा करती है; अन्यथा शरीर में रसों (सोम) के अभाव में शरीर में अग्नि बढ़ जाय और शरीर में शुष्कता (dehydration) हो जावे और शरीर के अङ्गप्रत्यङ्ग में सोम (शान्ति आनन्द) का साम्राज्य दूर होजावे।

इस प्रकार सोम-रूप अन्तकरणस्थ ❀ जीवन शक्ति का साम्राज्य सुरक्षित होता है अथवा वह यह शरीर में व्याप्त जीवन शक्ति वा प्राण शक्ति, (अशनि) वासना×रूप, मनोमय तेज में इषु रूप प्राप्त और प्रतिष्ठित † होती है सोम ही

❀ मन एव अग्निः। श० १०-१-२-३। मनो वै प्राणानाम् अधिपतिः। श० १४-३-२-३। यन्मनः स इन्द्रः (जीवन शक्तिः)। गो० उ० ४-११। मनसि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः श० ७-५-२६।

×काम संकल्पः मन एव, श० १४-४-३-६।

†अथ एनं उदीच्याँ दिशि विश्वे देवाः अभिषिंचन् वैराज्याय। ऐ० ८-१४, सोमाय, कौ० ६-६। जीव के मन के हेतु विश्वेदेव रस बहाते हैं।

वीर्य‡ है, जो रक्त का अन्तः परिणाम है। यह वीर्य भी निज (पुरुष) जैसे सन्तान परम्परा (स्वजः) को उत्पन्न करता हुआ, प्राणी की जाति को जीवित रखता है। मनोमय विद्युत् तेज ही, वासना के रूप में, इस वीर्य द्वारा सोम रूप सन्तान-क्रम को सुरक्षित रखता है। वासना मय "अशनि-मन" द्वारा वीर्य का निज सन्तान क्रम को जारी रखना ही, "स्वजः रक्षिता" सोम के साम्राज्य की रक्षा करना है।

आधिभौतिक पक्ष में:—

सोम÷ ही चद्रमा है। यह 'स्वः' सूर्य से 'जः' जन्मा है। 'स्वः' सूर्य प्रकाश से ही इसका प्रकाश 'जः' प्रकट होता है। सूर्य के परली ओर (उदीची दिक्)—सूर्य के (प्रतीचीदिक् में) अस्त होने पर, चन्द्रमा के प्रकाश का रात्रि पर साम्राज्य विस्तृत होता है। 'अशनि' † चन्द्रकिरणें ही इषु हैं जो चन्द्रमा की प्राप्ति 'सोमरूप' अन्न औषधि के हेतु कराती हैं। चन्द्रमा की आभा का विस्तार इन चन्द्र किरणों से होता है।

उत्तर दिशा में 'सोम' विद्युत् साम्राज्य है। विद्युत् ❀ की उत्तर दिशा में बहुतायत है। वहां ६ मास रात्रि होती है जिसमें

‡ रेतः (वीर्य) सोमः। कौ० १२-७। श० १६-२-६।

÷ चन्द्रमा उ वै सोमः। श० ६-५-१-१। कौ० १६-५।

† यः अश्नुते—व्याप्नोति वा स अशनिः। उ० २-१०२।

❀ अथः एतस्याम् उदिच्यान् दिशि भूयिष्ठं विद्योतते, (षड्विंश ब्रा० २-४)

लगभग २॥ मास तक आकाश में विजली का प्रकाश होता रहता है। इसे "औरोरा बोरियलिस" (Aurora Borealis) कहते हैं। यह विजली 'स्वजः' सूर्य, पृथ्वी, तथा ध्रुवतारे के पारस्परिक 'वरुण' ❀ वा 'सोम' रूप चुम्बक प्रभाव से प्रकट होती है। तथा यह प्रकाश उस चुम्बक क्षेत्र में वज्र रूप (अशनि) विद्युत् के चमकने से होता है।

विद्युत् प्रवाह द्वारा (Electrolysis) जो जलीय क्षार को ध्वंस किया जाता है तो क्षार कणों के दो भाग, विद्युत् भार को वहन करते हुए विजली के दोनों तारों की ओर गति करते हैं। और कास्टिक सोडा और क्लोरिन गैस उत्पन्न करते हैं। यह क्षार भाग जो विद्युत् भार से युत हैं, सोम+हैं। यह पानी में क्षार के घुलने मात्र से 'स्वजः' स्वयमेव उत्पन्न होते हैं। विद्युत् के दोनों तारों में तथा क्षार जल में व्याप्त जो 'अशनि' विजली है वह इन विद्युत भार युत क्षार कणों को दोनों तारों तक 'इषुवत्' प्रेरित † करती है। जल में त्रसरेणुओं के गुण का, घोलन परिणाम स्वरूप, अन्तर्हित होना, प्रतीची (प्रतिगत) दिशा में वरुण का साम्राज्य है, जो विजली के तारों को क्षार जल में डालते ही 'सोम'❀ रूप अन्न (Ions) के साम्राज्य में बदल जाता है।

❀वरुणः सोमस्य राज्ञः। श० ४-२-१-११।

+ सवति (प्रेरयति) इति सोमः। उ० को० ४-१५१।

सवति ऐश्वर्यं हेतुः भवति इति सोमः। उ० को० १-१४०।

† वरुणः वै सोमस्य राज्ञः (श० ४-२-१-११)

गतिशील त्रसरेणु ही पृदाकू हैं इन त्रसरेणुओं में कास्टिक सोडा तत्व (सोम) ही अन्न है।

(X ray tube)एक्स किरण यन्त्र में दोनों तारों के बीच विद्युत् भार अर्थात् धरातल भेद (Potential Difference) अति अधिक होता है उस विद्युत् क्षेत्र में वरुण का साम्राज्य है। विद्युत् क्षेत्र में किंचित मात्र शेष—वायव्य परमाणु—अन्तर्हित (वरुण रूप) विद्युत् शक्ति के वाहक होकर सोम का साम्राज्य विस्तृत करते हैं। बैटरी या डाइनेमो से बिजली एक गोल लपेटे तार (Induction coil) में से आती है। इस के चारों ओर दूसरा तार व्यवधान (Insulator) देकर लपेटा होता है जिसे (Secondary coil) गौण तार कहेंगे। इस दूसरे तार में गोलक संख्या अधिक तर होने से 'स्वजः' स्वयमेव ही, (पूर्व तार में बिजली के रुक २ कर गति करने से) उस एक्स किरण यन्त्र में तारों के सिरों पर उत्पन्न हुई विद्युत्, ऊँचे धरातल (Voltage) को तथा संचित दबाव को जो क्षीण होता रहता है—पहिले जैसा क़ायम रखती है। यन्त्र के दोनों सिरों के बीच तल भेद इतना अधिक हो जाता है कि 'अशनि' विद्युत् झपट कर एक तार से दूसरे तार पर 'इषु' रूप आकृष्ट और आक्रान्त हो कर, धरातल भेद मिटाती है। फलतः सूक्ष्मतर वायव्य परमाणु, जो पम्प करने के उपरान्त यन्त्र में बच रहे हैं—'अशनि' विद्युत्

वज्र के आघात से ❀ छिन्न भिन्न हो (X ray) एक्स किरण उत्पन्न करते हैं, जो मनुष्य के फेफड़े का फ़ोटो खींचने में काम आती है।

रेडियम Radium स्वयमेव 'सोम' रूप है। अन्नरूप केन्द्रीय विद्युत् त्रसरेणु (Alpha ray) ऐल्फा किरण—धाराप्रवाह रूप में रेडियम से निकलते रहते हैं। Radium रेडियम के भीतर (स्वजो रक्षिता) स्वतः ही अणुओं (atoms) के टूटने की क्रिया होती रहती है, जिस में प्राणरूप बीटा नामक किरण के पृथक् होने के साथ २ उपरोक्त केन्द्रीय विद्युत् परमाणु भी पृथक होते रहते हैं। इसमें 'अशनि' व्यापक (पदार्थों को भेदन करने वाली) गामा नामक किरण हमें प्राप्त होती हैं उसका वैज्ञानिक उपयोग करते हैं।

ईश्वर और विज्ञानपक्ष में—

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, और वाणप्रस्थ आश्रमों में ज्ञान,, कर्म और उपासना का ईश्वरीय उपदेश ऋक, यजु, साम द्वारा पिछले मंत्रों में अग्नि, वायु (इन्द्र) तथा वरुण (आदित्य) ऋषियों द्वारा हो चुका। प्रकृति ज्ञान उपार्जन तथा निष्काम कर्म क्षेत्र में, तथा सृष्टि में, परमात्म विभूतियों के दर्शन काल में, अर्थात् ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वाणप्रस्थ आश्रमों में–जीव का प्रकृति की ओर मुख था। अब

❀ ये अस्यॉं उदीच्यॉं दिशि प्रविध्यन्तः नाम देवाः, तेषाम् वो वात इषवः। अथर्व० ३-२६-४। उत्तर दिशा में जो प्रबल आघात करने वाली शक्तियां है उनकी प्राप्ति में वायु साधन है।

उत्तर दिशा में अर्थात् परली ओर स्वयम् सोमरूप ब्रह्म का उपदेश अथर्ववेद में अङ्गिरा ऋषि—अथवा प्रकृतिस्थ महा ❀ प्राण शक्ति के साक्षात् द्वारा, संभव होता है। सोम रूप ब्रह्मानन्द का साम्राज्य छाया है। यह ब्रह्मानन्द का अनुभव 'स्वजः' निज आत्म तल पर प्राप्त होता है। वहाँ यह सोम रूप ब्रह्म का स्वयमेव स्थित स्वराज्य सुरक्षित है स्वयं तपोमय ज्ञानमय ब्रह्म से उत्पन्न यह ब्रह्मानन्द है—प्रकृति अथवा बाह्य साधन इसमें उपादान कारण नहीं। अन्तमुर्खी जीव भी स्वयमेव उत्पन्न अन्तः-तल स्थित निज आनन्द को ही इस प्रकृति—जन्य सुख की मूल में पाता है। सृष्टि में ब्रह्म की उपासना से अर्चित आत्म ज्ञान ही वह 'अशनि ‡' वज्र है व्यापक ज्ञान है, जिस से मनुष्य को, प्रकृति को वेध कर आत्मतल की प्राप्ति होती है। आत्मतल में व्यापक विष्णु † अगले मन्त्र ५ का देवता है वही अमृत है* वही ओज×, बल, है। अतः प्रकृति से परली दिशा—उसमें सोम का साम्राज्य—स्वबल से उस सोम का संरक्षण होना—तथा विद्युत् वा मनोमय तेज रूप अशनि द्वारा सोम प्राप्ति—ये विषय हमारे जानने योग्य हैं—ब्रह्म की महत्ता को

❀सोमः वै प्रजापतिः। श० ५-१-३-७।

‡अश्नुते व्याप्नोति इति अशनिः; वज्रं वा। उ० को २-१०२।

†यद्वैविष्णु :सोमः सः। श० ३-३-४-२१।

*तद् यत् अमृतं सोमः सः; श० ६-५-१८।

×ओज सहः; बलंवै सहः, सहसः स्वजः॥ कौ० ३-५; श० ६-६-२-१४; ऐ० ३-२६।

जताने वाले हैं। यह रहस्य जान कर हम द्वेष भाव को, प्रकृतिस्थ गुणों का परिणाम समझ कर, निज मन से दूर करें॥ इति॥

मन्त्र १२

मनसा परिक्रमा मन्त्र ५

ओ३म् ध्रुवा दिग्विष्णुः अधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

ओ३म्। ध्रुवा। दिक्। विष्णुः*। अधिपतिः। कल्माष‡ग्रीवः। रक्षिता। वीरुध। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जंम्भे दध्मः॥

आत्मा वा पृथ्वी वा नीचे की दिशा है। अन्न वा सोममय विष्णु का साम्राज्य छाया है। कृष्ण ग्रीव वा कुल्माष अन्न जिस (जठराग्नि) की संस्थिति करें, वह अग्नि ही इस विष्णु† के

'*कुल्माषग्रीवः' इति पैप्प० सं०। 'यमः अधिपतिः' इति तै० सं०। अग्निः वा असितग्रीवः। यजु० २३-१३। श० १३-२-७-२। असित-कृष्ण कल्माषः कृष्णः। शब्द कल्पद्रुम। कुल्माषः—अधपके गेहूँ चना, उबले हुए—शब्दार्थ चिंतामणि कोष। कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति।नि०भू० १-३।

‡अग्निः वै देवानाम् अवमः विष्णुः परमः। ऐ० १-१।

†वीरुध ओषधयः विरोहणात्। नि० नै० ६-१-३-६।

साम्राज्य की रक्षक है। औषधियाँ ही इषु रूप हमें प्राप्त होने वाली वस्तु हैं। इन दिशा अधिपति, रक्षक तथा इषुओं के गुणों द्वारा हम आक्रामक रोगों की शान्ति करें।

आधिदैविक पक्ष में :—

ध्रुवा—निश्चल दिशा पृथ्वी ‡ है, यही नीचे की अधरा दिशा है। पृथ्वी के अग्नि संयुत सूक्ष्म परमाणु (जो अन्न आदि के उत्पन्न करने वाले हैं) तथा अन्नवीर्य ही विष्णु ॐ रूप हैं, उनका यहाँ विस्तार है। अन्तर्हित अग्नि जो भूगर्भ से पृथ्वीतल पर आती है तथा वह अग्नि * जो बरसते जल कणों के गर्भ में तेज, रूप से छिपी हुई है, औषधि अन्न की उत्पादक शक्ति के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। यह अग्नि जो कण २ में व्याप्त है, अन्न उत्पादन हेतु जलीय रसों द्वारा, वनस्पति-औषधियों को प्राप्त होती है। पृथ्वी तल को फाड़ कर निकलने वाले अंकुर उस रस को पाकर बढ़ते हैं। जो तेजाँश वर्षा जल में अन्तर्हित, पृथ्वी तल पर प्राप्त होता है, वह पार्थिव परमाणु में मिल कर, बीज से किसान के खेत में संयुक्त होकर, अंकुर उत्पन्न करता है। तेजो-

‡पृथिवी ध्रुवा। तै० ३-३-१-२। ध्रुवादिक् अधरादिक् इति सायणः।

ॐयत् तद् अन्नं एष स विष्णुः। श० ७-५-१-२१। यः वै विष्णुः सोमः स, श० ३-३-४-२१। रेतः (वीर्य) सोमः। कौ० १३-७। श० १-९-२-९। वैष्णवं हि हविर्धानम्। श० ३-५-३-१५। अग्निः वै देवानाम् अवमः विष्णुः परमः ऐ० १-१।

*अस्यां ध्रुवायां दिशि अग्निः देवता। श० १४-६-९-२५।

मय अग्नि, जो वर्षा जल में—तदेवं पार्थिव रसों में (विष्णु रूप) व्याप्त है। वह पृथ्वी के परमाणुओं को भेदन करके उन में से 'सोम रस' अन्नभाग को आकृष्ट करती है, और वही अग्नि (प्राणरूप से) बीज स्थित प्राणीभाग को उत्तेजित करती है। वह बीज स्थित प्राण—बीज के पार्थिव (अन्न) भाग को कुछ भक्षण करता हुआ (वीरुध) अंकुर छोड़ता हुआ, पृथ्वी के रसों में घुस जाता है; वहाँ निज बल से अथवा अन्य कीटाणुओं की सहायता से—निज इष्ट अन्न को खाने के हेतु—जड़ों के सहारे—उस सोम (अन्न) रस को (इषु) पाता है, जिसे जलीय अन्तर्हित तेज ने रसों में पकाकर रख छोड़ा था।

इस प्रकार वनस्पति, औषधि, तथा अन्न आदि उत्पन्न होते हैं। वह (कल्माषग्रीव) अन्तर्हित अग्नि—जो कि प्रारम्भ में सूर्य किरणों से बादलों में प्राप्त हुई थी—अब समय पाकर—पुनः सूर्य संयोग सहित (कल्माषग्रीव—असित) रङ्गविरङ्गे—पुष्प, औषधि, वनस्पति, फल, वा अन्न आदि की प्राप्ति कराती है, और इस प्रकार विश्व के भोजन की सृष्टि होती है। पृथ्वी में व्याप्त (विष्णुरूप) अन्न, जल, अग्नि की यदि बहुतायत न हो तो भी उत्पत्ति संभव नहीं। यह ज्ञान हमें प्राकृतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति में सहायक हो और हम रोग रहित बलवान हों।

अध्यात्म पक्ष में:—

(उदीची) उत्तर दिशा में हृदयस्थ जीव की प्रधानता में, जीवन शक्ति युत रक्त कणों द्वारा, नव रक्त की उत्पत्ति तथा वीर्य

द्वारा संतति होना (स्वजः रक्षिता) हम देख चुके । अब ध्रुवा‡— अधरा—नीचे को अथवा (ध्रुवा) आत्मा पक्ष में मन्त्रार्थ विचारणीय है । मनुष्य के नाभि प्रदेश तथा धड़ के निम्न भाग 'उदर' का वर्णन करते हैं कि वहाँ—उदरस्थ पित्ता·जिगर आदि से पाचन अग्नि के प्रकट रूप [कल्माष (असित) ग्रीव] रङ्ग विरंगे रस— अन्न के पचाने वाले, रसायनिक पदार्थ निकल पड़ते हैं जो शरीर में पाचन शक्ति का कार्य सुरक्षित रखते हैं । फलतः रस की उत्पत्ति होती है, जो अशुद्ध रक्त के रूप में फेफड़े में प्राण वायु को लेकर, हृदयस्थ (अधरा दिक् स्थित) ❀ शक्ति द्वारा प्रभावित, रक्तस्थित जीवाणु द्वारा—नये नये रक्तकणों वा रक्त-स्थित जीवाणुओं की (वीरुध इषवः) शरीर में प्राप्ति कराता है । रक्त ही पुष्ट होकर वीर्य को बनाता है, यह वीर्य ही (वीरुध) अंकुर शक्ति रूप शरीर में (इषु) प्राप्त होने वाला पदार्थ है ।

आधिभौतिक पक्ष में:

(ध्रुवादिक्) पृथ्वी * तल में (कल्माष) ‡ अनेक रङ्ग वाली मिट्टी में, (कल्माषग्रीवो रक्षिता) अग्नि, चुम्बक तथा

---

‡ ध्रुवा—अधरा (निम्न) प्रदेश...इति सायण । ध्रुवा आत्मा, तै० ३-३-१-५ ।

❀ ध्रुवा—(अधरादिक्) आधार रहित हृदय, रक्त समुद्र में गति करता प्रतीत होता है । अधरा इति सायण ।

* पृथिवी ध्रुवा । तै० ३-३-१-२ ।

‡ कल्माष=असित; सित शुक्ल वर्ण अर्थात् सप्त रङ्ग का समुदाय; असित्-समुदाय रहित अर्थात् भिन्न २ रङ्ग ।

आकर्षण शक्ति से व्याप्त (विष्णु) विस्तृत क्षेत्र में, भूगर्भ स्थित–रत्न, धातु, अन्न आदि विविध ऐश्वर्य तथा बल उत्पादक पदार्थ होते हैं, जिन्हें (वीरुध इषवः) पृथ्वी से उपर–पृथ्वी तल को फोड़ कर प्राप्त किया जाता है। भूगर्भ में उपरोक्त व्यापक शक्तियां ही विष्णु की व्याप्ति की सूचक हैं। लोह जैसे (कल्माष) असित=कृष्ण पदार्थ में चुम्बक शक्ति (विष्णु) सुरक्षित रहती है। तदेवं आकर्षण शक्ति, प्रत्येक पार्थिव कण में व्याप्त गुरुत्व वा आकर्षण का संयोग मात्र है। इन्हीं 'असित' वा 'कल्माष'=कृष्ण पदार्थों द्वारा वह शक्ति संचित और रक्षित होती है। जो सित=श्वेत पदार्थ हैं वे ऊपर को 'वीरुध' निकाले जाकर प्राप्त होते हैं। अथवा रङ्ग बिरंगे पृथ्वी के धातुक्षार (कल्माष) पदार्थों से भी धातु आदि को (कल्माषग्रीवो रक्षिता) श्वेत अग्नि ताप, द्वारा पिघला कर अलग किया जाता है। श्वेत रङ्ग जल का रूप कहा गया है तथा च धातुओं को आयुर्वेद शास्त्र में रस कहा भी जाता है। इनके गुणों को जानकर हम सुखपूर्वक दीर्घ आयु सहित जीवन को सुगम बनावें।

ईश्वर तथा विज्ञान पक्ष में—

प्रकृति में, तथा शरीर में निज अन्तःकरणों में—ओज वा सोम की वृद्धि कर योगी, व्यापक (विष्णु) ब्रह्म शक्ति का सर्वत्र अनुभव करते हैं। इसका विशेष ज्ञान 'ध्रुवादिशा' अर्थात् मूलाधार प्रदेश में संयम और तप से प्राप्त होता है। मूलाधार में अथवा आत्मतल पर योगी ध्रुव (निश्चित) धारणा करते

हैं कि ओहो—प्रकृति में व्यापक परमात्मा की विष्णु रूप शक्तियाँ, समस्त जगत तथा इस शरीर को (कल्माष ग्रीव) नाना भेद से, धारण और पोषण करती हैं। यह श्वेत, हिरण्यमय, वाह्य पदार्थों के अन्तरालय में (कल्माष) नाना भांति के रङ्ग बिरंगे अथवा (काले) रहस्य मय पदार्थों में छिपा हुआ, अग्नि स्वरूप ब्रह्म ही व्याप्त है। इस विश्व में व्याप्त ब्रह्म शक्ति—विष्णु का बोध होने पर, आत्म ज्ञान रूप (वीरुध इषवः) अंकुर, मानों 'ध्रुव' ❀ अविनश्वर आत्म तल पर, उदय होता है ॥ इति ॥

मन्त्र १२

मनसा परिक्रमा मन्त्र ६

ओ३म् ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्योनमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।

ओ३म्। ऊर्ध्वा। दिक्। बृहस्पतिः। अधिपतिः। श्वित्रः। रक्षिता। वर्षम्। इषवः। तेभ्यः। नमः। अधिपतिभ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषुभ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यं। वयं। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः॥

शब्दार्थः—'ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर की दिशा में 'बृहस्पति' महा-

❀ ध्रुवा वै आत्मा। तै० ३-३-१-५।

प्राण ❀ का राज्य है। (श्वेत वायव्य, पार्थिव, मेघरूप, आकाश गङ्गा अथवा शुभ्र वर्ण एलुमिनियम चांदी वा रसौषधियां वा सूक्ष्म वीर्य रस अथवा निर्मल आत्मज्ञान) प्रभृति (श्वित्र) * श्वेत पदार्थ ही इस महाप्राण के राज्य रक्षक हैं। सृष्टि रचना, ऋतुऐं बल, ऐश्वर्य तथा ईश्वरीय स्नेह जल रूप (वर्षम् † इषवः) वर्षा ही प्राप्त होने वाले पदार्थ हैं।

आधिदैविक पक्ष में:—

ऊर्ध्व दिशा ‡ महान् आकाश है। उसमें 'वृहस्पति' महा-प्राण ❀ शक्ति का राज्य है। प्रकृति ही उस राजा की सम्पत्ति है। यह प्रकृति महती—फैली हुई, सतगुण द्वारा महत् तत्व के रूप में, शुभ्र वर्ण रूप ज्योतिः मात्र—तथा रजोगुण के रूप में क्रिया शक्ति, तथा भोग्य वस्तुओं के रूप में तमो गुण वाली है। यह

❀ एष प्राणः उ एव वृहस्पतिः। श० १४-४-१ २२।

* श्वेतते—वर्ण विशिष्टः भवति इति श्वित्रम् (उ० को० २-१३)। जो पदार्थ श्वेत रंग वाला हो वही श्वित्र है।

† वर्षा एव यशः। (गो० पू० ५। १५। यदावै वर्षा पिन्वते अथ एनाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि उपजीवन्ति। वर्षा के द्वारा ही मानो पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश—इन्द्रियें—मन तथा प्राणीवर्ग रूप समस्त सृष्टि में जीवन संचार होता है। श० १४-३-२-२२।

‡ अथ एतद् अन्तरिक्षं ऊर्ध्वादिक् एषाहि दिग् वृहस्पतेः।
श० २-३-४-३६।

प्रकृति सृष्टि रचना निमित्त आकाश से आदि लेकर समस्त पदार्थों के रचनार्थ सामने खड़ी है। इसी में महा प्राणशक्ति वृहस्पति का आधान होकर सृष्टि रचना प्रारम्भ होती है। प्रकृति को प्राण सहित सृष्टि विस्तार करना है। यह आकाश में दीखने वाली 'श्वित्र' आकाश गङ्गा रूप, श्वेत धारा प्रकृति की प्रथम भौतिक रचना है। इस श्वेत धारा के गर्भ में सृष्टि के सूर्य, नक्षत्र, पृथ्वी आदि पदार्थ बन रहे हैं। जब प्रकृति में महाप्राण का आधान होता है तो प्रकृति से "वर्ष-मिषवः" रस धारा के प्रवाह रूप में अपतत्वों (गैस + जलीय) पदार्थों की रचना होती है। यही वर्षा है जो अग्नि मय, जल-मय, फिर पिण्ड रूप ठण्डी होकर, ग्रह उपग्रहों के प्राकृत अंशों (Nebula) का प्रारम्भिक निर्माण करती है।

अध्यात्म पक्ष में:—

मनुष्य शरीर में, वीर्य ऊर्ध्व गति करता हुआ, ललाट प्रदेश में (ऊर्ध्व दिशा में) स्थित होता है। (श्वित्र) श्वेत, निर्मल, यह वीर्य ही (ओज रूप) प्राण की शरीर में रक्षा करता है; और

+ प्राणाः वै मारुताः । श०९-३-७।

अथ एनं—ऊर्ध्वायाँ दिशि मरुतः आङ्गिरसः च देवाः अभि-अषिंचन्—पारमेष्ठ्याय, महाराज्याय, आधिपत्याय, स्वावश्याय, अतिष्टाय। -ऐ० ८-१४, इस ऊर्ध्व दिशा में मरुत वायु, और आङ्गिरस (जल-प्राण) सींचते हुए, इस जीव को महान् प्रतिष्ठा, राज्य, आधिपत्य, संयम-स्वत्व आदि की प्राप्ति के हेतु—(सृष्टि की उपलब्धि कराते हैं)।

(बृहती = वाणी) इन्द्रियों के स्वामी—बृहस्पति—प्राण का समस्त शरीर में मस्तिष्क नाड़ियों (Motor nerves and Sensory nerves) के द्वारा साम्राज्य स्थापित करता है। वीर्य का मुख्य भाग मस्तिष्क के (श्वित्र) पीले तथा श्वेत अंगों में स्थित हो, बृहस्पति प्राण के शासन को शरीर में यथावत् सुरक्षित रखता है। वीर्य के सूक्ष्मतर अंश की तरल पदार्थ रूप में—मस्तिष्क भाग में वर्षा होती रहती है। यह वर्षा ही मस्तिष्क तथा मस्तिष्क शिराओं (nerves) की जान है। यह उन्हें गीला † रखती है; और ज्ञान शक्ति और प्राण शक्ति को इषु रूप से सब ओर से संचित तथा सब तरफ संचरित करती रहती है।

आधिभौतिक पक्ष में:—

तेजोमय—पारद, स्वर्ण, चांदी, आदि पदार्थों को 'सोम' औषधि से संयुक्त कर (घोट कर) अग्नि प्रदीप्त करते हैं तो औषधियों के गुण-जीवनदाता प्राणरूप बन कर इन रसायन पदार्थों में खिंच आते हैं और ताप के प्रभाव से काँच की बोतल में ऊर्ध्व गति करते हुए शुभ्र (चमकीले) रङ्ग वाले (Crystal) रसायन में सुरक्षित रहते हैं और शरीर में जीवन वर्षा करके सुख देते हैं।

ऊर्ध्व दिशा * आकाश में गति करने वाले वायुयानों में उड़ने

---

†आ त्वा विशन्तु इन्दवः आगल्दा धमनीनाम्। नि० नै० ६-५-२५-१०६ ज्ञान तन्तु (मस्तिष्क की नाड़ियों) को रस प्राप्त होता रहे।

*अथ एतद् अन्तरिक्षं ऊर्ध्वा दिक्......। श० २-३-४-३६।

वाले योद्धा, ‡ विश्वविजयी बृहस्पति (चक्रवर्ती) राजा के शासन को स्थापित करते हैं। वे वायुयान (श्वित्र) श्वेत रङ्ग वाले (एलुमिनियम) धातु तथा पैट्रोल के प्रयोग द्वारा बनाये वा चलाये जावें। और आकाश से आग्नेय बम वर्षा वा वारुणी गैस (बम) के द्वारा शत्रुओं को नाश किया जाय।

ऊर्ध्व आसन पर खड़े हो बृहस्पति विद्वान् (श्वित्रो रक्षिता) निर्मल ज्ञानमय उपदेशामृत से प्रेम की वर्षा करें, और (बृहस्पति) वेद वाणी को मनुष्यों तक पहुंचावें।

ईश्वर तथा विज्ञान पक्ष में:—

ऊर्ध्व दिशा*—अर्यमा नामक ईश्वर के जानने वालों का मार्ग है, ध्रुवादिशा अर्थात् आत्मा में स्थित योगी जिसने निर्मल (श्वित्र) आत्म ज्ञान द्वारा 'काम क्रोध' आदि से अपनी रक्षा की हुई है—वह योगी विष्णु रूप व्याप्त ईश्वरीय शक्ति का दिग्-दर्शन अपने जीवन काल में इस (ध्रुवा) पृथ्वी पर कर लेता है तब वह ईश्वर के जानने वालों की राह (ऊर्ध्वादिक् में) जाता

‡ऊर्ध्वादिक् अर्यम्णः पन्थाः। श० ५-५-१-१२।

अतूर्त पन्थाः पुरुरथः अर्यमा—अरीन् नियच्छति। नि० दै० ११-२-२०-१६। नियमित गति करने वाला—वेग से बड़े यान में जाने वाला रक्षक योद्धा शत्रु का नाश करता है।

*ऊर्ध्वादिक अर्यम्णः पन्थाः। श० ५-५-१-१२।

अर्यं जानाति इति अर्यमा। उ० १-१५६।

अर्यः ईश्वर नाम। निघण्टु २-२२।

है। जब निर्मल सहस्रार क्षेत्र (शिवत्र) में वह प्राणायाम वा योग द्वारा (बृहस्पति–प्राण) को एकाग्र करता है तो उस महा प्राण के चिन्तन में परमात्म तत्त्व की विभूतियों का साक्षात् करता है, तब निर्मल आत्म तेज का आधिपत्य प्रारम्भ होता है—अर्थात् आत्म बल उभरने लगता है, यहां तक कि सर्व रक्षक (शिवत्र) भक्तवत्सल दयामय प्रभु, इस तपोमुख जीव की, प्रेमानन्द वर्षा से पिपासा शान्त करते हैं। इस आत्मवित का यह (ब्रह्ममधु) स्नेह जल पान, उस जीव को ईश्वरोन्मुख करता हुआ मुक्ति का द्वार खोल देता है। मुक्ति के हेतु ऊर्ध्वगति तथा अन्त में प्रेम जल स्नान किस प्रकार होता है यह अगले सन्ध्या मन्त्रों में देखिये। ॥ इति ॥

इस प्रकार, मन द्वारा विश्वचिन्तन करते हुए, सत्य–स्थिर सुख के स्रोत विश्वात्मा, तथा सुख प्राप्ति के अभिलाषी जीव, और इन दोनों पुरुषों की आज्ञा वर्तिनी प्रकृति–इन तीनों के रहस्यों को देखता हुआ उपासक न केवल शारीरिक एवं च मानसिक दुःखों के भी दूर करने की लौकिक और पारलौकिक सामग्री को प्राप्त करने की विधि जान लेता है, वरंच वह उपासक, ईश्वर को सब शक्तियों तथा ऐश्वर्य का आदि मूल देखता है, और उसी का प्रकाश सर्वत्र उसे दीखता है। तब वह अपने कर्तव्य क्षेत्र को विस्तृत करता हुआ–पर मनको एकाग्र रखता हुआ—सब से मित्र भाव को प्राप्त होता है। इस संसार क्षेत्र में सब से बड़ी उन्नति प्राप्त करने तक के साधनों का विचार इन मन्त्रों द्वारा

सम्भव होता है और तभी ईश्वर के मार्ग में पहली सीढ़ी पर उसका पांव जम जाता है। वहां से ऊर्ध्व गति करते हुए वह अन्धकार लोक से ऊपर जाकर सुख लोक–तदनन्तर उत्तरोत्तर गति करते (ब्रह्म निर्वाण) मुक्ति तथा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करता है।

इति मनसा परिक्रमा मन्त्राः ॥



मनसा परिक्रमा मन्त्रों से सम्बन्धित देवता परिज्ञान विषयक विस्तृत परिचय, वैदिक साहित्य से संकलित, आगे नक़्शे में दिया गया है, जो विचार योग्य है तथा अनेक रूप में विश्व विज्ञान का परिचायक है।



मन्त्र १४

उपस्थान मन्त्र १

ओ३म् उद्वयं तमसस्परिस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।

ओ३म् । उत् । वयं । तमसः । परि । स्वः । पश्यन्त । उत्तरं देवं । देवत्रा । सूर्यम् । अगन्म । ज्योतिः । उत्तमम् ।

शब्दार्थ तथा भावार्थः—

मनसा परिक्रमा मन्त्रों द्वारा इस आध्यात्मिक तथा प्राकृतिक जगत का विवेचन करते हुए, और ऊर्ध्व गति करते हुए, (तमसः-परि) अज्ञान अन्धकार से परे, (उत्) उन्नति के पथ में—दुःखों से दूर (स्वः) वासनामय संसार में सुख की प्राप्ति के हेतु—हमारी इन्द्रियें, मन बुद्धि अन्तःकरण, तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र आदि (देव) दिव्य गुण वाले पदार्थ हमें इस सृष्टि में प्राप्त हैं। इन मन बुद्धि आदि तथा पृथ्वी सूर्य आदि दिव्य गुण युक्त भौतिक पदार्थों से (उत्तरं देवं) अधिक तर दिव्य ज्योति वाला देव हमारा आत्मा तथा प्राण है। उस (उत्तरं देवं) आत्मशक्ति वा प्राणशक्ति को (पश्यन्त) देखते हुए, (वयं) हम (उत्तरं) प्रकृति तल से अधिकतर उन्नति की ओर (अगन्म) अग्रसर होते हैं। यह प्राण शक्ति और आत्म शक्ति ही, (देवत्रा) मन बुद्धि इन्द्रिय और भौतिक दिव्य पदार्थ सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि देवों में, उनके देवत्व गुणों को सुरक्षित

रखती हैं। इस आत्म तथा प्राण शक्ति को जानकर (उत्तमम्) और भी अधिक से अधिक उन्नति करते हुए हम परमात्मा तक गति करते हैं। उपरोक्त सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि देवों में जिस प्रकार सूर्य (ज्योतिः उत्तमम्) सब से उत्तम ज्योति भासमान है; तदेवं इन सब सूर्य आदि देवों और उनसे अधिक दिव्य गुण युक्त जीव और प्राण शक्ति की भी अपेक्षा, यह ब्रह्म सबसे उत्तम ज्योति है, जो सृष्टि मात्र में, तथा जीव के भी अन्तःतल में, प्रतिभासित है। इस सर्वोत्तम ज्योति तक, हम प्रथम प्रकृति तल से, तदुपरान्त आत्मतल से, (अगन्म) ऊर्ध्वतम गति करते हैं।

मन्त्र १५

उपस्थान मन्त्र २

ओ३म् उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्।

ओ३म्। उत्। उत्। यं। जातवेदसं। देवं। वहन्ति। केतवः। दृशे। विश्वाय। सूर्यम्।

शब्दार्थ तथा भावार्थः—

अज्ञान अन्धकार से (उत्) ऊपर उठकर, ज्ञान पूर्वक हमने (स्वः) सुख सामग्री का उपार्जन किया, और सुख अनुभव किया। पुनः इन्द्रिय जन्य ज्ञान तथा तदर्चित सुख अनुभव के उपरान्त, इन्द्रियों (देवत्रा) की त्राता (रक्षक) प्राण शक्ति और निज

आत्म-शक्ति का अनुभव किया। इस प्रकार (उत् उत्) ऊपर उठ उठकर-उन्नति करते करते, जो सूर्य की न्याईं सर्वोच्च परम आत्मा है, जो प्राकृतिक पदार्थों में तथा जीव के अन्तः तल में छिपा हुआ है और सर्वत्र व्याप्त होने पर भी आँख से ओझल रहता है, तथा (यं जात वेदसं देवं सूर्यम्) जो इस सृष्टि के उत्पन्न होने पर ही अपनी शक्तियों को—प्रकट रूप में-अर्थात् वेद ज्ञान, तथा ज्ञातव्य विषय (विद्युत्, ताप, प्रकाश, चुम्बक, आकर्षण, अणु शक्ति) के रूपों में—हमारे प्रति उद्भासित करता है-ऐसे उस सूर्य समान, इस विश्व के नियन्ता प्रकाशक, उत्पादक. परमात्मा का-(दृशे) साक्षात् कराने के हेतु, केवल उपरोक्त प्राकृत शक्तियाँ ही तो हमें प्राप्त होती हैं। वह उसकी विभूति का इस प्राकृत जगत में हमें ज्ञान कराती हैं। (दृशे विश्वाय) विश्व को निज सत्ता का दर्शन कराने के हेतु (केतवः वहन्ति) सूर्य से उसकी किरणें ही तो विश्व में आती हैं। उसी प्रकार परमात्मा की विभूतियाँ अर्थात् वेदज्ञान, विद्युत, आकर्षण, ताप प्रकाश आदि इस संसार में उस ब्रह्म शक्ति का निर्देश करते हैं। परन्तु किरण मात्र द्वारा, जैसे सूर्य लोक में मनुष्य पहुँच नहीं पाता, वैसे ही उस परमात्म देव की सत्ता को प्राप्त करने के हेतु "उत उत्" निरन्तर परमात्म शक्ति के अनुभव करते रहने पर भी, हम उसके बराबर समीप पहुँचते रहने पर भी, पूर्णतः ब्रह्म में समाकर एक रूप "अहं ब्रह्मास्मि" होकर "मैं ब्रह्म हूँ" यह कहने में समर्थ नहीं हो पाते। हां, उस परमात्मा के ज्ञान रूप—प्रकाश

किरणों के दिव्यतम आलोक का, उन्नतम गगन (आकाश) मण्डल में अर्थात् योगस्थ निर्बीज समाधि में-विमलतम अनुभव सम्भव होता है। उपासक उन ही प्रखर परमात्म किरणों का अन्ततम अनुभव समाधि में करके, मानो कह रहा हो 'अहो, यह सूर्य रूप परम आत्मा का ही आलोक तो परमाणु परमाणु में दृश्यमान-भासित हो रहा है। उसका यह आलोक ही तो उसकी सत्ता की सूचना, इस प्रकट तथा अप्रकट विश्व के कोने २ से जीवों के उद्बोधन हेतु, डंके की चोट दे रहा है, कि जीवो, किंचित् इधर देखो-तुम्हारी सुख खोज की यही पराकाष्ठा है। इति ॥

मन्त्र १६

उपस्थान मन्त्र ३

ओ३म् चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष ꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ।

ओ३म् । चित्रं । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकं । चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः । आ । प्रा । द्यावा । पृथिवी । अन्तरिक्षं । सूर्य । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च । स्वाहा ।

शब्दार्थ तथा भावार्थ:—

(ओ३म्) सब दुखों के नाश और काम क्रोध आदि शत्रुओं के दमन हेतु-उस ईश्वर के अद्भुत स्वरूप और बल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—(देवानाम्) मन, बुद्धि, चित्त,

इन्द्रिय तथा पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारा, जल, अग्नि, वायु, बिजली, आदि, दिव्य (प्रकाशमान्) पदार्थों की (चित्रं अनीकं) यह विचित्र सृष्टि (सेना) (उत् अगात्) उदय होकर हमारे प्रति समुपस्थित है। सृष्टि विज्ञान के प्रकरण में तथा अघमर्षण और मनसा परिक्रमा मन्त्रों में हमने (चक्षुः) सब देवों की प्रकाशक अन्तर्हित ब्रह्मशक्ति को "मित्र-वरुण और अग्नि के" आख्यान में अनुभवात्मक दृष्टि से देखा है। वही परमात्मा इन वरुण अग्नि आदि के रूप में द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष को (आप्रा) प्रकृष्ट रूप से निज शक्ति द्वारा सर्वथा व्याप्त किये हुए है और समस्त सृष्टि को रचता और धारण करता है। (सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषः च) जैसा सूर्य के दृष्टान्त से पूर्व उपस्थान मन्त्रों में हमने देखा, वह ब्रह्मशक्ति ही, इस चर जगत और अचर वृक्ष पर्वत आदि की आत्मा बनी हुई है; अथवा जैसे जीव-आत्मा (शरीर में व्याप्त आत्म शक्ति द्वारा) इस शरीर को अपने तेज के अधिष्ठान में चलाता है, वैसे ही परमात्मा इस चराचर सृष्टि में व्यापक अधिष्ठाता और मूल प्रकाशक एवं तेज का स्रोत और आधार है। यह चराचर जगत उसी परम आत्मा का शरीर है। (स्वाहा) ‡ यह महिमा (उस सूर्य के समान) इस विश्व में परम आत्मा की है। एवं इस समस्त ब्रह्माँड का वही सूर्य है। इति ॥

---

‡ एष वै स्वाहाकारः य एष सूर्यः तपति। श० १४-१-३-२६।
स प्रजापतिः विदांचकार स्वः मा महिमा ह इति स स्वाहा। श० २-२-४-६।

मन्त्र १७

उपस्थान मन्त्र ४

ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत ꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।

ओ३म् । तत् । चक्षुः । देव हितं । पुरस्तात् । शुक्रम् । उत् । चरत् । पश्येम । शरदः । शतम् । जीवेम । शरदः । शतं । शृणु-याम । शरदः । शतं । प्रब्रवाम । शरदः । शतम् । अदीनाः । स्याम । शरदः । शतम् । भूयः । च । शरदः । शतात् ।

ओ३म् के "अ" रूप का अर्थात् सृष्टि के आरम्भक, तथा व्याप्ति द्वारा धारक रूप का हमने साक्षात्, अघमर्षण और मनसा परिक्रमा मन्त्रों में किया । 'तथा 'उ' रूप का मध्यवर्ती अन्तर्हित दिव्य शक्तियों के रूप में साक्षात्, हमने ३ उपस्थान मन्त्रों में किया । अब नेत्रादि इन्द्रिय-जन्य सुख प्राप्ति के हेतु, 'म्' रूप—इन इन्द्रियों के देवत्व गुण, तथा भोग्य पदार्थों में अन्न रूपत्व की, एक मात्र (अपीति) अनन्त में व्याप्त-(मिति) आधार शक्ति का वर्णन करते हैं कि—'देवहितं तत् चक्षुः'—इन्दिय आदि द्वारा, जो जाग्रत स्वप्न आदि अवस्थाओं में भासमान विश्व का अनुभव हमें हो रहा है-उन इन्द्रियों की (चक्षु) प्रकाशक=प्राणमय ब्रह्मशक्ति है । (देव) विद्वानों ने

बुद्धि द्वारा प्रकृति में जो प्रत्यक्ष और विचार पूर्वक विवेचन किया है—तज्जनित ज्ञान का—आधार और विषय वह ब्रह्मशक्ति है। उस परम आत्म तत्व को ही विद्वान् अपना मार्ग दर्शक मानते हैं; तथा उसको ही तत्वरूप से स्वीकार कर, वे सृष्टि समस्या को तथा सृष्टि के लक्ष्य और उपादेयता को समझ पाते हैं। उस आत्मज्ञान बिना, यह प्रकृति शक्तियाँ मनुष्य मात्र का, मनुष्य द्वारा ही संहार करादें। उसे मार्ग दर्शक न मान कर, उसी नियामक के आधीन प्राकृत नियमों में बँधकर-विद्वानों के बनाये शस्त्रास्त्रों द्वारा नाशकारी महा युद्ध भी होते हैं। अतः वह ही विद्वानों का (चक्षु) मार्ग दर्शक तथा (देवहितं) हितकारी है।

'पुरस्तात् शुक्रम उत् चरत्'

उपस्थान मन्त्रों में हमने "उत्वयं-उत् उत् यं—उत् अगात् अनीकं" इन शब्दों द्वारा क्रमशः, प्रथम सृष्टि तल के पदार्थों का विवेचन कर (तमसः परस्तात्) अज्ञान को दूर कर, प्राण और निज जीवन शक्ति को जाना। तदुपरान्त उच्च २ गति करते करते महा प्राण स्वरूप, सूर्य के दृष्टान्त सहित-परमात्मा की दिव्य विभूतियों का—इन्द्रिय, मन, बुद्धि, तथा बिजली, अग्नि—प्रभृति दिव्य शक्तियों में, उसका प्रकाश देखा, और यह अनुभव किया कि उसी महा प्राणशक्ति का—सूक्ष्म रूप से इन दिव्य पदार्थों में—अनेक अनेक रूप में—तेज (उत् अगात् अनीकं) उदय होने से ही यह सब देव दिव्यता को प्राप्त होते हैं। उसी महा तेज शुक्र के (उत् चरत्) उदय होने से, बिजली आदि शक्तियें

उत्पन्न होती हैं। (पुरस्तात्) पहिले ही से वह (शुक्र) प्राणशक्ति वा तेज, इन इन्द्रियों वा पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि देवों में, (उत् चरत्) मानों ऊपर उठता हुआ सा, इनको प्रकट ज्योति (चक्षुः) प्रदान किये हुये है। (तत्) वह प्राणशक्ति ही, इन इन्द्रियों (देवों) को दिव्यता प्रदान करने हेतु, वीर्य में अवतरित हुई है, जिसे ऊर्ध्व रेता ब्रह्मचारी वश में करते हैं।

'पश्येम शरदः शतं·····भूयश्च शरदः शतात् ।

इसी कल्याण तम बल ऐश्वर्य के आधार, (शुक्रम् उत् चरत), प्राण शक्ति वा वीर्य बल को उदय कर–ब्रह्मचर्य वा ब्रह्मविवेचन द्वारा–इन्द्रियों के सुख को, हम सौ वर्ष अथवा पूरी आयु तक, अनुभव करें। इसी वीर्य बल वा सार रूप ब्रह्म शक्ति वा प्राण बल की सहायता से, अथवा (वशीकृत प्राण) प्राणायाम आदि क्रियात्मक और मानसिक योग क्षेम के प्रभाव से, हम, सुख पूर्वक सौ वर्ष पर्यन्त वा इस पूर्ण आयु भर, देखें, जीवें, सुनें, बोलें, सामर्थ्यवान् हों, और किसी के समक्ष दीन वा कातर भाव से हमें न जाना पड़े। तथाच, यह सब सुख प्राप्ति में साधक-बल वीर्य, तथा दिव्य दृष्टि, दिव्य जीवन, दिव्य श्रवण शक्ति, दिव्य वाणी, तथा मूलाधार प्राणशक्ति–हमको (भूयः च शरदः शतात्) इस जीवन काल में १०० वर्ष के उपरान्त भी अथवा इस पूर्ण आयु के उपरान्त अगले जीवन में भी, पुनः पुनः प्राप्त हों।

॥ इति उपस्थान मन्त्र ४। इति उपस्थान मन्त्राः ॥

———०———

मन्त्र १८

अथ गायत्री मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्। भर्गोदेवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्।

ओ३म्। भूः। भुवः। स्वः। तत्। सवितुः। वरेण्यम्। भर्गः। देवस्य। धीमहि। धियः। यः। नः। प्रचोदयात्॥

ओ३म् के अ, उ, म् के अर्थ जो हमने प्रारम्भ में लिखे हैं उनका "भूः भुवः, स्वः", इन तीन व्याहृतियों के अर्थों सहित, सार रूप में हम यहाँ निर्वचन करते हैं। अ—जाग्रत (प्रत्यक्ष) अवस्था में, जगत की उत्पत्ति (आदिमत्व) तथा धारण परिपोषण (आप्ति) ही मानों प्राण स्वरूप परमात्मा (भूः) के कार्य हैं यह हमने अघमर्षण और मनसा परिक्रमा मन्त्रों में देखा। (भूः=प्राण)। भूः शब्द ही पृथ्वी सूर्य चन्द्र आदि रूप स्थूल जगत् का द्योतक, 'अ' के अर्थ को प्रकट करता है। यह सारा जगत् जिसमें विलीन होता है, जिससे उदय होता है वही 'उ' (उदय अस्त का स्थान) अन्तरिक्ष स्वरूप मध्यवर्त्ती अन्तः तल है। यही 'भुवः' अपान वायु रूप से चराचर जगत् की 'मृत्यु'—नश्वरता में ईश्वर का प्रजा पति होना सिद्ध करता है—वह यों कि अपान वायु जैसे नष्ट भ्रष्ट अन्न को पकाकर मल को बाहर फेंक कर, रक्त को शुद्ध कर पुनर्जीवन देता है, तदेवं मृत्यु ही जीव को वृद्ध रोग ग्रस्त शरीर से छुड़ा, नव प्राण (जीवन) देता है। अन्तरिक्ष 'भुवः' शुद्धि का स्थान है। जीव 'भुवः' अपान वायु द्वारा—मृत्यु के

बाद 'उ' (स्वप्न) विचार करता है कि अहो ! मैंने यह कर्म सुख के हेतु किये वे दुःखदायी बने, इन्हें त्यागूँ, आनन्द (स्वः) लोक की प्राप्ति के लिये यह यह कार्य कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार वर्त्तमान कर्म 'भूः' तथा भविष्य जन्म (सुख की अभिलाषा से पूर्ण) 'स्वः'—इन दोनों का मध्यवर्ती 'उ' विचार लोक वा अन्तरिक्ष लोक है। यही पूर्व जन्म के अनुभव तथा भविष्य-निर्माण के बीच की 'उ' मध्यवर्ती अवस्था है। ब्रह्म की सूक्ष्म विभूति में से जगत् की उत्पत्ति और स्थित होना 'अ' वैश्वानर अवस्था है। उसमें उस जगत का नष्ट (प्रलय) होना यह मध्यवर्ती 'उ' तैजस अवस्था है। विलीन जगत के बचे जीवों के शेष कर्मों तथा वासनाओं के अनुकूल, जीवों के कल्याण (मुक्ति) हेतु, नव सृष्टि का निर्माण आवश्यक है। अतः नई सृष्टि के हेतु, सुषुप्ति अवस्था गत प्रकृति और जीव का ईश्वरोन्मुख होना ही 'म्' (स्वः—आनन्दलोक) है। पूर्व सृष्टि गत ज्ञान और कर्म का उदय नई सृष्टि में इसी कारण रूप ब्रह्म—परमात्मा के 'म्' स्वरूप से सम्भव होता है। तथा च इसी कारण ब्रह्म में यह जगत, समुद्र में जल विन्दु के समान, समाया हुआ (म् = मिति) है।

इस प्रकार ओ३म् के 'अ, उ, म्,' तीन अक्षर हैं इधर भूः भूवः और स्वः तीन व्याहृतियाँ हैं। भूः भुवः स्वः का अर्थ प्राण अपान व्यान के भाव में भी लिया जाता है। 'भूः' पृथ्वी आदि कर्म लोक हैं; 'भुवः' अन्तरिक्ष है जो स्थूल संसार के विलीन होने का स्थान, अथवा सूक्ष्म शक्तियों और अनुभवों का

संघर्ष लोक है, जहां मृत्यु के वाद जीव रहता है; और 'स्वः' सूर्य लोक, विचार लोक, प्रकाश व गति का कारण है—अथवा अनु-भव जन्य, नव जीवन सम्वन्धी, सुख हेतु जीव की आयोजना है। इस प्रकार परमात्मा की 'अ' सृष्टिकर्त्ता, धारक, परिपोषक, वैश्वानर अवस्था से—'भूः' पृथ्वी व कर्मलोक का सम्वन्ध है। उ-उसकी तैजस अवस्था तथा सूक्ष्मशक्ति से—'भुवः' मलों का क्षय, तथा नव जीवन का उदय सम्वन्धी क्रियात्मक रूप–स्थूल प्रकृति को और शरीर धारी जीव को मिलता है। म् उसकी आनन्द मय अवस्था है। नव जीवन सम्वन्धी, पूर्व, व्रह्म विषयक अनुभूत आनन्द के हेतु, सृष्टि में, सुख की जीव की अभिलाषा 'स्वः' है, जिसे यह प्रकृति में खोजता है। अथवा सृष्टि में (स्वः) सूर्य के समान, कारण प्रकृति में क्रिया का आधान करने वाला वह व्रह्म, निज वीर्य (प्राण) से सेचन कर इस प्रकृति को जीव की मुक्ति हेतु प्रयुक्त करता है।

यह परमात्मा की तीन अवस्थाओं की हमने उपासना की। अहो वह यह तीनों अवस्थायें तो, उसकी शक्ति के रूप में ही हमें दृष्टिगोचर हुई हैं–जो शक्ति कि जीव और प्रकृति में भासमान व प्रति-विम्बित हैं। वह स्वयं तो इन से भी परे, इन तीनों निज स्वरूपों से भी महत्तम है। वह स्वयं अपनी दैवी विभूतियों से ही जगत की सृष्टि, स्थिति, प्रलय, करता हुआ इनसे परे—महानतम है। उसका हम बुद्धि से कैसे वर्णन करें; क्योंकि परमाणुओं से बनी बुद्धि है, वह परम देव प्रकृति से भी सूक्ष्म है। जीव का

अन्तःकरण, जिसके प्रकाश प्रवाह से, प्रकृति को देखता है वह जीव अल्पज्ञ है तो वह परमात्मा ज्ञान से भी परे है। सृष्टि से पृथक् परमात्म तत्व 'म्' का 'हल् अन्त' 'नेति' रूप है वह नेति ब्रह्म, प्रकृति-जीव को सामर्थ्य देता हुआ भी अघमर्षण मन्त्रों से गायत्री मन्त्रों तक, हमें, न जीव से लिप्त न प्रकृति से लिप्त दिखाई दिया। जैसे 'विद्युत् कण' अपने जैसे तथा अपने से विरुद्ध रूपा दोनों विद्युत् परिणामों को, समीपवर्त्ती पदार्थों के निकटवर्त्ती तथा दूरतम प्रदेशों में, अभिव्यक्त करता हुआ, स्वयं न तो विद्युत् भार में कम होता न बढ़ता है—जिस प्रकार चुम्बक का 'उत्तरी वा दक्षिणी' कोई भी ध्रुवांश, समीपवर्ती लोह के निकटवर्ती तथा दूरतम प्रदेशों में, उभय रूपा अर्थात् विरुद्ध रूपा—दो प्रकार के परस्पर आकर्षक—नवीन ध्रुवांशों को प्रकट करता हुआ भी, निज चुम्बकत्व को न कम होने देता न अधिक होने देता है, इसी प्रकार वह '्'—म् का 'हल् अन्त'—अनिर्वच नीय, अव्यवहार्य परमात्मा—प्रकृति के त्रसरेणुओं में विरुद्ध रूपा-संयोग विभाग गुण, तथा च जीवों में ज्ञान (निज सम्बन्धी) तथा अज्ञान—प्रकृति उन्मुख अवस्था में, तथा च सुख की आकांक्षा भी उदय करता हुआ, जीव और प्रकृति से वह महान् अतीत है। स्वयं अव्यवहार्य, वह प्रकृति के व्यवहारों का उत्पादक—स्वयं अनिर्वचनीय वह स्थूल जगत का निर्माता, और कर्त्ता होते हुए भी वह अकर्त्ता है—यह उस परमात्मा का चौथा ('म्' का '्' हलन्त) पाद है—अव्यवहार्य होने से उसे हम गायत्री मन्त्र में

पठित 'तत्' नपुंसक लिङ्ग शब्द से ही केवल कह सकते हैं।

अहो इधर यह जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति में अनुभूत, परमात्म विभूति मात्र ही तो हमने देखी। यह चमकदार जगत् में—सूक्ष्म जगत् और कारण जगत् में, ब्रह्म की अनुभूति 'हिरण्यमय' है यही चमकीला शक्तिरूप ही तो हमने देखा। पर यह तो उस परमात्मा करके जनित—उसकी विभूतियाँ हैं। यह विभूतियाँ अनन्त सही, परन्तु यह विभूतियाँ वह परमात्मा स्वयं तो नहीं। हमने गुह्य तल में टटोला। हम सुषुप्ति के अन्तःतल में तुर्यावस्था के द्वार पर खड़े—इधर 'अउम्' रूप तुझ अपरिमेय के अनन्त ऐश्वर्य को देख, दिव्य आनन्दों में हिलोरें लेते रहे। पर यह दिव्य आनन्द कौन दे रहा है? किससे यह आनन्द की किरणें प्रखर रही हैं? कौन वह सूर्य है जिस पर हमारी बुद्धि की तो कौन कहे हमारी दिव्य आत्मचक्षु भी नहीं टिकती? तू जो कोई भी हो—तेरा अतुल वैभव, हमने 'अ उ म्' में (उप) समीप (आसना) बैठकर, देखा है। इस तेरे वैभव ने ही जब हमें चौंधिया दिया तो तुझे हम कहां पावें। (सवितुः) सूर्य की किरण—सूर्य नहीं बन सकती। तेरी विभूति तो, केवल मुझ जीव और इस प्रकृति में, अनन्त सौन्दर्य, यौवन, और ऐश्वर्य का निर्माण कर गई। प्रत्येक मन्त्र (तेरे दिये वेद ज्ञान का) मुझे प्रत्यक्ष, तेरी हिरण्य-रूप गुण-मालाओं में मुग्ध कर चुका है। मैं तेरे द्वार (म्) पर तुझे नहीं पाता। इधर (म्) तुझे ही रोमांचकारी, हर्ष-आल्हाद-दाता मैंने जाना था पर इधर तू नहीं—इधर तो तेरी

इंगित विभूतियां भर हैं। वे अनन्त हैं तो क्या—मैं तो तुझे ही प्राप्त करूँ। इधर मुझे कोई भी (वरेण्यम्) वरणीय, लेने योग्य देव नहीं दीखता। क्योंकि यह सब तो हिरण्यमय पात्र हैं—इनकी अन्तः तल में तू मुझ से आँख मिचौनी खेलता है। मुझे पात्र की चमक से चौंधिया कर, विरह ज्वाला में बार बार भ्रमित कर, थका रहा है। नहीं दीखता नहीं सही। मैं तो, इस तेरे हिरण्यमय रूप की खोज में तपता रहूँ। ओहो जाना था कि तेरी अग्नि मुझे तपा देगी। कहाँ हिरण्यमय ज्वाला (तपरूप), कहाँ यह अपार आनन्द ! इधर थाह नहीं। उधर पार नहीं। शुभे ब्रह्मणस्पते ! तेरा यह तत्-नपुंसक रूप एक ओर-तेरा तेज मुझ विरहिणी के लिये पुरुष रूप इस जीवन में दूसरी ओर। अहा यह आनन्द का स्रोत। (सवितुः*—वरेण्यम) सचमुच ही मेरे वरणीय, हे अत्यन्त तेजस्वी मेरे प्रियतम आओ—इधर निज संसार को त्यागकर, उधर तेरे तेज को मैं कैसे सहन करूँ। पर तेरा कल्याण रूप है, यह जीवन की माला है। मैं स्वयं माला बन कर तुम्हें प्राप्त होऊँ। तत्-वह तू-(सवितुः) मेरा ज्ञान प्रद, ऐश्वर्य का प्रदाता (वरेण्यम्) मेरा वरणीय-मेरा स्वामी है। मैं तेरे पास आया-गया-तुझ में विलीन हुआ। मुझे लेना-मैं आत्मविस्मृत हो केवल तुझको ही देखता हूँ।

---

* सविता-सृष्टि उदय काल से पूर्व, आदित्य रूप ब्रह्म।

(नि॰ दै॰ १२-१-१२-७)

अहो ! मैं वहां से–पतिलोक से–आया हूँ। (सवितुः×) मेरे चिर पति–चिर मित्र–गुरु–त्राता–भर्त्ता–सृष्टि के उत्पादक, नियामक देव (देवस्य) का ही तो यह सारा ऐश्वर्य है। आओ सखे ! हमारे प्रियतम का ही तो यह आलोक है। उसी का संदेश तो यह हिरण्यमय जगत् लाया है। हम पतिलोक से आये हैं–पति के राज्य में, उसकी सत्ता मात्र–अधिष्ठातृत्व से ही उसके 'भर्गः' विशाल विभूतियों के साम्राज्य में ही तो हम आये हैं। उसी का, आओ सखे दिग्दर्शन करें (धीमहि)। पतिगुण गान ही हमें भावें। जहाँ जहाँ हम देखें–(नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को, वह प्रियतम,‡ निज कल्याण तम–सन्देश तथा प्रिय आह्वान की गूंज से, अपनी ओर ही (प्रचोदयात्) प्रेरित करता रहे।

अहो! मैं भ्रमित हुआ। किंकर्तव्य विमूढ़ हुआ हूँ। क्यों ? क्या मेरी (बुद्धि) दृष्टि थक तो नहीं गई। प्रकृति ने मुझे क्या २ खेल खिलाये–प्रियदर्शन के धोके मुझे निज जड़ता की टक्करें दीं। नहीं २ मैं इस प्रकृति से नहीं विवाहित होना चाहता। मेरा वरणीय (वरेण्यम्) तो वह (कौन ? इधर सृष्टि में नहीं) जिस ओर मेरी दृष्टि है उस ओर अन्तः पुर में–अन्तः पुर के इस द्वार नहीं–उस द्वार पर, मेरा सविता, पिता, माता, धाता, देव, वह जो 'तत्' नाम से अनिर्वचनीय अव्यवहार्य–अव्य-

---

× नि॰ दै॰ १०-३-३२-१०।

‡ सविता–बुद्धि (वेदज्ञान) तथा कल्याण प्रदाता

(नि॰ दै॰ १२-२-१३-७)

पदेश्य है—आओ वह देव हमारा इष्ट है। हम उसके भक्त, यह जीवन माला उसकी है। हमें सुख हेतु उसी ने दी। उसकी माला उसी को दें। इसी (देवस्य) इष्ट के (भर्गः) ऐश्वर्य को हम 'धीमहि' ध्यान करें। वह (यः) जो (नः धियः) हमारी नाना विषय वती बुद्धि को (हिरण्यमय पात्रों से हटाकर) (प्रचोदयात्) प्रेरित करे-कहाँ ? हिरण्यमय पात्र में छिपे (सत्य) † निज शान्त शिव-अद्वैत (तत्) स्वरूप की ओर। इति ॥

इति गायत्री उपासना ॥

मन्त्र १९

अथ नमस्कार मन्त्र

ओ३म् नमः शम्भवायच मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ।

अहा ! आज की सन्ध्या अति मनोरम है-देखो न वह (शम्भू) हमारा मन केवल 'शम्' सुख, शांति की खोज में था-'शम्' सुख की आकाँक्षा हममें सन्ध्या के प्रारम्भ में 'भूः' उदय हुई थी। प्रकृति की दिव्य शक्तियें स्वयं मानों हमें सुख मय (मयोभव) दीखती थीं। जब हमने प्रकृति में अघमर्षण आदि मन्त्रों में खोजा तो हमारे मानसिक दुःखों का नाश हुआ। उसी आत्मसार-सृष्टि कर्त्ता परमात्मा को खोजते २, उसी 'शं कर' ने हमारे हेतु, इस

---

† हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितं (आवृतं) मुखम्। तत् त्वम् पूषन् (सविता) अपावृणु, सत्य धर्माय दृष्टये । यजु० अ० ४० ।

(देवी) दिव्य प्रकृति रूपिणी अपनी महत्ता को हमारी अभीष्ट कामनाओं का पूरक (शं) सुख शांति का (कर) दाता बनाया। वही तो 'मयस्कर'—इस सृष्टि को अपनी विभूति से व्याप्त करके 'मयः' सुख मय—'कर, बनाने वाला है जैसा हमने मनसा परिक्रमा मन्त्र में देखा। प्रकृति तल से अन्तरोन्मुख—उपस्थान मन्त्रों में (उत्तर) ऊर्ध्व गति करते हुए हमने निज आत्म—तत्व 'शिव' का दर्शन पाया। अहो ! यह हम (आत्मरूप—शिव) तो स्वयं कल्याण के भूरि २ कोष ! भला—सुख की खोज में कहां २ भटकते फिरे। अब आत्मतत्व 'शिव' का ही केवल नहीं—हमने तो निज जीव में व्याप्त सूक्ष्मतर 'शिवतर' परम आत्म तत्व की विभूतियों का भी चलो पर्यटन किया है। अहो हमने (शम्भूः) मन की महत्ता को आज माना—मन तुझे नमस्कार हो। अहो अग्नि-विद्युत् आदि दिव्य शक्तियो, तुम (मयोभव) सुखमय प्रतीत हुईं—तुम भी अति आकर्षक हो, तुम्हें नमस्कार। अहो 'अ' रूप ब्रह्म, तुमने तो इस विश्व को—व्यापक, धारक, और परिपोषक बन, (शं) सुखमय (कर) बना दिया—'अ' रूप हे वैश्वानर—विश्व के नयन्ता, तुम्हें नमस्कार। अहो यह विनश्वर जगत—इसे वारम्वार आप नव जीवन देकर (मयस्कर) सुखमय बनाते हो। अतः आप उ रूप अन्तर्यामी परमात्मा को नमस्कार। म् रूप कल्याण स्वरूप हे 'शिव' जीव तेरी महत्ता को हमने जाना क्यों कि तू भी 'म्' प्रकृति से पृथक्—केवल कल्याण स्वरूप—तेरा आत्म गुण (अनुनासिक है) बुद्धि वाणी से परे है। परन्तु 'म्' में जो

हल् अन्त तम 'शिवतर' अधिक तर कल्याण का स्रोत, अन्ततम, अनिर्वचनीय, हल्कार '्' चिह्न स्वरूप है, वहाँ उस 'तत्' द्वार तक भी तो हम हो आये। ओहो वह तो मुझ शिव के अन्तः तल (शिव-तर) ही था—कल्याण को मैंने जगत् में खोजा-पाया अपनी बग़ल में। उस अद्वैत 'शिवतर' ब्रह्म को नमस्कार।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ओ३म् (अहो) यह तेरा नाम 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' मेरे अधिभूत, अधिदैव, अधिआत्म सारे ही क्लेशों को तो शान्त करने वाला सिद्ध हुआ। इसी की खोज में, सुख की कामना हेतु—सुख वर्षा हेतु (अभिस्रवन्तु नः), मैंने (शम् नः देवीः अभिष्टय आपः भवन्तु पीतये) कह कर सन्ध्या प्रारम्भ की थी। स्थूल पदार्थों में सुख को खोजते २, सन्ध्या के पूर्व ही, यह तो हम निश्चय कर ही चुके थे कि वे पदार्थ सुख दायक नहीं वे तो नश्वर हैं। अतः वायु आदि के दृष्टान्त से अमरत्व—अमर सुख की धारणा पूर्वक 'आपः' वहने वाली दिव्यशक्तियों को जो शरीर में थीं, उन्हें हमने आह्वान किया था। आचमन, मार्जन, प्राणायाम द्वारा चित्त एकाग्र कर, तथा 'अघ' दुखदायी विकारों को अघमर्षण मन्त्रों से दूर कर, किंचित् इस सृष्टि में चारों ओर मनसा परिक्रमा द्वारा विवेचन कर-संचित प्राण द्वारा ऊर्ध्व रेता बने हुए-ऊर्ध्व गति करते २ (उपस्थान मन्त्रों में) परमात्म तथा आत्म विभूतियों का दर्शन किया। आनन्द सागर में ग़ोते लगाते प्रेम का आस्वादन किया। सभी तत्वों की महत्ता को

देः
संय

चन्द्र
राह में लगने दें
तथा निष्काम भा
सुख का विस्तार हो

न प्राप्त

... वर्ष पहले नम्बर पर रहने वाली पाकिस्तानी टीम उस वर्ष पांचवें नम्बर पर रही। पाकिस्तान ने 2000 में 41 वन डे मैचों में से 20 में सफलता पायी और 21 में उसे पराजय हुई।

आस्ट्रेलिया की टीम इस वर्ष दूसरे नम्बर पर रही उसने 69.56 प्रतिशत सफलता के साथ यह स्थान प्राप्त किया। आस्ट्रेलिया ने 2000 में 23 मैच खेले, जिनमें से 15 में उसे सफलता मिली, छह में पराजय हुई, एक अधूरा रहा और एक मैच टाई रहा। भारतीय टीम, जिसने इस वर्ष 34 वन डे मैचों में से 15 में सफलता पाई और 19 में शिकस्त हुई, रैंकिंग में छठे नम्बर पर रही।

कुल मिलाकर 2000 में कुल 131 वन डे मैच ... से 127 ... अधूरे ... का



थे। पाकिस्तान के ... दक्षिणी अफ्रीका ... 61 विकटों के ... विकेट लेने में स... शेन वार्न ने यह ... साथ पाया था।

सात बल्लेबाजों ... से अधिक रन बन... की। 1999 में भी ... एक हजार रन बना... दो गेंदबाज 50 से ... अधिक विकेट लेने ... में सफल हुए। 1999 में भी दो ... गेंदबाज 50 से ... अधिक विकेट ले ... सके थे।

आस्ट्रेलिया के विकेट कीपर बल्लेबाज एडम गिलक्रिस्ट पहले दस बल्लेबाजों में जगह बनाने में सफल नहीं हुए अलबत्ता स्ट्राइक ... में पहला स्थान ... किया।

...000 में

...ज़ाक और ...पोलाक 61- ...से अधिक ... पिछले वर्ष ... विकेटों के

...र्ष एक हजार ...फलता प्राप्त ...बल्लेबाजों ने ...स वर्ष सिर्फ

23 मैचों में 95-15 स्ट्राइक रेट के साथ 726 रन बनाए। ...गलैण्ड के एंड्रयू कडिक 2000 के सबसे अधिक किफायती गेंदबाज रहे। उन्होंने इस वर्ष 20 मैचों में 22 विकेट हासिल किए। उन्होंने कुल 170 ओवर में 578 रन देकर यह विकेट लिये। उन्होंने प्रति ओवर 3.22 रन दिए। मार्क बूचर और मुईन खान ने 56-56 खिलाड़ियों को विकेट के पीछे आउट किया। बूचर ने

...खिलाड़ियों को स्टंप किया।

आस्ट्रेलिया के मार्क वॉग, भारत के राहुल द्रविड़, दक्षिण अफ्रीका के शेन पोलाक और जैक कालिस 15-15 कैचों के साथ सबसे अधिक कैच पकड़ने वाले फील्डर रहे।

